सैंटर फॉर डिस्टैंस एंड आनलाईन ऐजुकेशन
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

कक्षा : एम.ए. भाग–2 *सैमेस्टर–3*

पत्रा : तीसरा (हिन्दी नाटक और निबन्ध) *एकांश संख्या : 1*

माध्यम : हिन्दी

पाठ नं.

1.1 : आचार्य शुक्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व

1.2 : निबन्ध 'श्रद्धा भक्ति'

1.3 : निबन्ध 'करुणा'

1.4 : निबन्ध 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' (नया)

1.5 : निबन्ध 'क्रोध'

1.6 : साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्रयवाद

Department website : www.pbidde.org

M.A IInd
Sem - III

2022-2023 तथा 2023-2024 सैशन के लिए
(रैगुलर, डिस्टैंस ऐजुकेशन और प्राइवेट विद्यार्थियों के लिए)

प्राईवेट विद्यार्थियों के लिए
पूर्णांक : 100
समय : 3 घण्टे
पास प्रतिशत : 35

रैगुलर,डिस्टैंस ऐजुकेशन विद्यार्थियों के लिए
लिखित परीक्षा : 75 अंक
आंतरिक मूल्यांकन : 25 अंक
पास अंक : लिखित में 26
आंतरिक मूल्यांकन : 9
समय : 3 घण्टे

पेपर तीसरा
हिन्दी नाटक और निबन्ध (HINM2PUP-T-303)

उद्देश्य :–

1. विद्यार्थियों को नाटक विधा के माध्यम से रंगमंचीयता की मूल्यों से परिचित करवाना।
2. विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध नाटककारों से परिचित करवाना।
3. विद्यार्थियों को निबन्ध विधा के स्वरूप और प्रवृत्तियों से परिचित करवाना।

अधिगम प्रतिफल :–

1. विद्यार्थियों की नाटक विधा में रुचि पैदा होगी।
2. रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों के माध्यम से विद्यार्थियों में मानवीय गुण पैदा होंगे।
3. विद्यार्थी पारिवारिक विघटन के विभिन्न कारणों से अवगत होंगे।
4. विद्यार्थी सैन्य जीवन में होने वाले दलित शोषण के यथार्थ से परिचित होंगे।

निर्धारित पाठ्यक्रम

1. मोहन राकेश – **'आधे अधूरे',** राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
2. स्वदेश दीपक –**'कोर्ट मार्शल',** राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
3. रामचंद्र शुक्ल – **'चिंतामणि',** पाँच निबन्ध (श्रद्धा–भक्ति, करूणा, क्रोध, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति – वैचित्र्यवाद)

छात्रों और परीक्षकों के लिए निर्देश

1. प्रथम खण्ड सप्रसंग व्याख्या से संबंधित होगा, जिसमें प्रत्येक रचना से दो–दो

व्याख्याएं 'अथवा' के साथ शत–प्रतिशत विकल्प रूप में पूछी जाएंगी। पाठ्यक्रम से किसी भी रचनाकार को छोड़ा नहीं जा सकता। तीनों रचनाओं की एक–एक व्याख्या अनिवार्य है। अंक (3×6 =18) **रै॰ तथा डि. ए.**

(3×8 =24) **प्रा॰**

2. निर्धारित लेखकों/रचनाओं से सम्बद्ध 'अथवा' रूपी विकल्प के साथ छह आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जायेंगे। परीक्षार्थी को किन्हीं तीन का उत्तर देना होगा। उल्लेखनीय है कि आलोचनात्मक प्रश्न पाठ्यक्रम में निर्धारित लेखकों की मूल रचनाओं के खंड विशेष (Text Book) तक ही सीमित न रखकर संबंधित लेखक की मूल रचना के सम्पूर्ण संदर्भ तथा उसके सम्पूर्ण रचनाकर्म पर भी केन्द्रित हो।

अंक (3×9 =27) **रै॰**

(3×12 =36) **प्रा॰**

3. रैगुलर तथा डिस्टैंस ऐजुकेशन के विद्यार्थियों से छह तथा प्राईवेट विद्यार्थियों से आठ लघु प्रश्न (जिनके उत्तर छह–सात पंक्तियों तक सीमित हों) पूरे पाठ्यक्रम से बिना विकल्प के पूछे जाएंगे। सभी का उत्तर देना अनिवार्य होगा।

अंक (6×5 =30) **रै॰ तथा डि. ए.**

(8×5= 40) **प्रा॰**

अध्ययन के लिए सहायक पुस्तक–सूची

1. हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास, डॉ. दशरथ ओझा, राजपाल एडं सन्ज़।
2. रंगमंच और नाटक की भूमिका : डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
3. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : रामजन्म शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. आधुनिक हिन्दी नाटक : बच्चन सिंह, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद।
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।
6. मोहन राकेश रंग–शिल्प और प्रदर्शन, जयदेव तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

एम. ए. (हिन्दी) भाग–द्वितीय पत्र : तीसरा

(चिन्तामणि) हिन्दी नाटक और निबन्ध

पाठ संख्या : 1.1

आचार्य शुक्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व

इकाई की रूपरेखा :

1.1.0 उद्देश्य

1.1.1 प्रस्तावना

1.1.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन (व्यक्तित्व)

1.1.3 शुक्ल जी का कृतित्व

1.1.4 निबन्ध की परम्परा में शुक्ल जी का स्थान

1.1.5 निबन्ध साहित्य में शुक्ल जी का स्थान

1.1.5.1 स्वयं जांच अभ्यास

1.1.6 सारांश

1.1.7 प्रश्नावली

1.1.8 सहायक पुस्तकें

1.1.0 उद्देश्य :

इस पाठ को पढ़ने के बाद विद्यार्थियों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जीवन, कृतित्व, निबन्ध परंपरा में उनके स्थान और निबन्ध साहित्य में उनकी भूमिका के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकेगी। शुक्ल जी के जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में भी इस अध्याय में जानकारी उपलब्ध करवाई गई है।

1.1.1 प्रस्तावना :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विज्ञान की उपलब्धियों से परिचित थे। विकासवाद पर उन्हें भरोसा था। स्थिरता के खिलाफ उन्होंने निरंतर जंग की। उनकी समीक्षा का क्षेत्र व्यापक हैं। वे राष्ट्रभक्त लेखक थे। देश की आज़ादी में उनकी गहरी रूचि थी। वे कर्मसौन्दर्य पर आस्था रखते थे, लेकिन उन्होंने अपना कर्म मध्यवर्गीय आचार्य का तय कर लिया था।

1.1.2आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन (व्यक्तित्व) :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म 'अगोना' गाँव में सम्वत् 1941 को पं. देवीदत्त शुक्ल के घर हुआ। 4 वर्ष की अवस्था तक शुक्ल 'अगोना' में ही रहे। सम्वत् 1945 में इनके पिता की नियुक्ति हमीरपुर जिले की 'राठ' नामक तहसील में सुपरवाइज़र कानूनगो के रूप में हुई और वे अपने परिवार को लेकर वहीं जाकर रहने लगे।

शुक्ल जी की बाल्यावस्था का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व इनकी माता तथा इनके पिता के बारे में थोड़ा जान लेना आवश्यक है। शुक्ल जी की माता 'गाना' के उस पवित्र और प्रसिद्ध मिश्र वंश की पुत्री थीं जिसमें कई शताब्दियों पूर्व गोस्वामी तुलसीदास ने जन्म लिया था। इस प्रकार मातृपक्ष में शुक्ल जी को एक महान् साहित्यिक विरासत प्राप्त हुई थी। हो सकता है कि शुक्ल जी की तुलसी–भक्ति तथा मर्यादा–प्रेम का यह भी एक कारण रहा हो। उनकी माता रामायण की अनन्य भक्त थी। उनकी दादी भी राम की अनन्य उपासिका थी। पितामही तथा माता के इस सम्मिलित प्रवाह ने ही सम्भवतः शुक्ल जी को 'रामचरितमानस' का भक्त बना दिया था।

उस युग में केवल शुक्ल जी के पिता ही अकेले हिन्दी के विरोधी नहीं थे, बल्कि सारा वातावरण ही हिन्दी का विरोधी था। उस समय उर्दू को उच्च साहित्यिक भाषा तथा हिन्दी को 'गँवारू जवान' समझा जाता था। इसलिए हिन्दी केवल सातवीं कक्षा तक ही पढ़ाई जाती थी। आठवीं कक्षा से उर्दू और अंग्रेज़ी पढ़नी पड़ती थी। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे विषम परिवारिक तथा सामाजिक वातावरण में रहते हुए भी शुक्ल जी के हृदय में हिन्दी–प्रेम कैसे उत्पन्न हो सका? इसका कारण हम ऊपर बता आये हैं कि शुक्ल जी की माता की शिक्षाओं में गोस्वामी तुलसीदास के वंशजों का रक्त प्रवाहित हो रहा था और शुक्ल जी की दादी रामभक्त थीं। शुक्ल जी के पिता फ़ारसी–साहित्य के भक्त थे। इसलिए उन्हें भी साहित्य प्रेमी माना जाता सकता है। साथ ही वे आर्य समाजी भी थे। अतः धर्म–भावना से अथवा हिन्दी साहित्य की फ़ारसी साहित्य से तुलना की दृष्टि से वे सूर के पद 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी सतसई', 'हम्मीर हठ', भारतेन्दु के सभी नाटक बहुत ठाठ से पढ़ने थे। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शुक्ल जी का पारिवारिक वातावरण साहित्य के सौरभ से परिपूर्ण रहता था और हिन्दी–साहित्य से उनका परिचय बाल्यकाल से ही होना प्रारम्भ हो गया था।

हिन्दी को 'गँवारू भाषा' समझने वाले इनके पिता ने अपने विचारानुसार इनका अक्षराम्भ उर्दू से कराया और ये आठवीं कक्षा तक उर्दू और फ़ारसी पढ़ते रहे। परन्तु हिन्दी के प्रति स्वाभाविक प्रेम होने के कारण ये पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर चुपचाप हिन्दी–कक्षा में जा बैठते और हिन्दी पढ़ते। यहीं रा0ठ में जब शुक्लजी 9 वर्ष के थे तभी इनकी माता अपने तीसरे पुत्र कृष्णचन्द्र को 20 दिन का

छोड़कर स्वर्गवासी हो गई। इस बीच इनके पिता की बदली सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर हो गई थी। मिर्जापुर में ही शुक्ल जी की अंग्रेज़ी शिक्षा प्रारम्भ हुई और घर पर एक मौलवी फ़ारसी पढ़ाता रहा। सन् 1893 में इनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। विमाता का अपने सौतेले पुत्रों के साथ अच्छा व्यवहार न रह सका। परन्तु घर में शुक्ल जी की दादी का गहरा आतंक था, इसलिए विमाता दबी रहती थी। पुरानी प्रथा के अनुसार शुक्ल जी का विवाह भी केवल 12 वर्ष की अवस्था में ही कर दिया गया।

जब शुक्ल जी नवीं कक्षा में पढ़ रहे थे, इनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। पिताजी का शुक्ल जी पर बहुत स्नेह था। इसलिए इस दुर्घटना का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वे गम्भीर रहने लगे। घर में विमाता का शासन प्रारम्भ हो गया और उन्होंने शुक्लजी तथा उनके दोनों भाइयों का जीवन दूभर बना दिया। पिता भी अपनी पत्नी के प्रभाव में आकर पुत्रों से रुष्ट रहने लगे। नौबत यहाँ तक आई कि लड़कों की फीस देना बन्द कर दिया गया। अन्त में काफी वाद–विवाद के उपरान्त गृह–कलह शान्त हुआ और शुक्लजी ने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर ली। इसके बाद पिता तो यह चाहते थे कि ये दफतर में जाकर कचहरी का काम सीखें परन्तु शुक्लजी आगे पढ़ना चाहते थे। अन्त में इनकी लगन और दृढ़ता के सम्मुख पिता को झुकना पड़ा और इन्होंने प्रयाग जाकर एफ.ए. में दाखिला ले लिया। उन दिनों एफ.ए. में गणित अनिवार्य विषय था और शुक्ल जी गणित में बहुत ही कमज़ोर थे, जैसे कि प्रायः सभी उच्चकोटि के साहित्यिकारों के साथ होता देखा गया है। प्रेमचन्द भी गणित में शुक्ल जी जैसे ही कमज़ोर थे और उन्हें भी इसके कारण बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ी थी। यह विषय भी इनकी रुचि के अनुकूल न होने के कारण – ये परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर मिर्जापुर लौट आए। हिन्दी के भाग्य से यह अच्छा ही हुआ। इन्हें अपनी पढ़ाई चलाने के लिए 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका में काम करने के साथ ही ट्यूशन भी करने पड़े। आर्थिक संकट से मुक्ति के लिए इन्होंने एडीसन के 'Essay on Imagination' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से अनुवाद किया था। प्रतिभाएँ सदैव संघर्षों में ही विकास पाती हैं। शुक्ल, प्रेमचन्द, निरालाजी आदि के जीवन इसके उदाहरण हैं। नौकरी में आत्म–सम्मान की रक्षा मुश्किल से ही हो पाती है, विशेषकर निम्न कोटि की नौकरी में। विद्यार्थी–जीवन समाप्त करने के उपरान्त शुक्लजी को भी अपने आत्म–सम्मान की रक्षा के लिए अपने पिता तथा उनके अफसर – जिले के कलक्टर – विंढम साहब ने शुक्ल जी को नायब तहसीलदार के लिए नामजद कर दिया। रविवार को भी दफ्तर आने का आदेश पाकर इन्होंने त्याग पत्र दे दिया और प्रतिक्रिया स्वरूप 'इण्डियन रिव्यू' में वाट हैज इण्डिया टु डू' नामक लेख लिखकर अपने स्वतन्त्र विचारों तथा देशप्रेम का परिचय दिया। इस लेख को पढ़कर कलेक्टर ने इन्हें क्रांतिकारी घोषित कर इनकी नायब तहसीलदारी की नामज़दगी को भी रद्द कर दिया।

कुछ साल तक बेकार बैठे रहने के उपरान्त शुक्लजी ने मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में 201 मासिक पर ड्राइंग–मास्टरी कर ली। शुक्ल जी पैदा ही अध्यापक बनने के लिए हुए थे, अतः इस अध्यापन कार्य में इनका मन खूब लगा। मिर्जापुर के निवास–काल में इन्होंने काफी निबन्ध, कविता आदि लिखकर अपनी कलम मांज इन्हें हिन्दी के महारथियों की कोटि में ला बैठाया।

उन्हीं दिनों हिन्दी–प्रेमी अलवर–नरेश को अपनी साहित्यिक जिज्ञासा के समाधान तथा विशेष रूप से हिन्दी–भाषा और साहित्य की जानकारी के लिए एक हिन्दी–विद्वान् की आवश्यकता हुई। शुक्ल जी की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर अलवर–नरेश ने उन्हें 400 मासिक पर अपने यहाँ बुलाना चाहा। शुक्लजी अपने आर्थिक–संकट को दूर करने के लिए इस प्रलोभन में आ गए। मालवीय जी ने उन्हें रोका भी क्योंकि वे जानते थे कि शुक्ल जी जैसे स्वतंत्र–चेता व्यक्ति का राज–दरबार में निभना कठिन है। मगर शुक्ल जी अलवर चले ही गए। हुआ वही जिसकी मालवीय जी को आशंका थी। शुक्ल जी उस दरबारी वातावरण से खिन्न होकर, केवल एक महीना वहाँ रहकर विश्वविद्यालय में लौट आए। जब संवत् 1994 में श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया तो उनके स्थान पर शुक्ल जी को अध्यक्ष बना दिया गया। जीवन के अन्तिम समय तक वे इसी पद पर कार्य करते रहे।

शुक्ल जी का व्यक्तित्व साहित्यककारों का व्यक्तित्व साधारणतः आकर्षक नहीं पाया जाता। परन्तु उनकी उस साधारणता में कुछ ऐसा विशिष्ट आकर्षण होता है जो अनायास ही देखने वाले को प्रभावित कर लेता है। शुक्ल जी का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार का था। श्री उदय के शब्दों में शुक्ल की रूपरेखा इस प्रकार थी –

"मैंने सर्वप्रथम देखा, हिन्दी विभाग की ओर आता हुआ एक व्यक्तित्व, सम्हल–सम्हल कर पग आगे छिपा लेने वाली विकट मूँछें जिनके तुर्रे निचले होठों से सम्बन्ध स्थापित किए हुए। ..... उनकी तीखी–सी नाक पर गोल–गोल चश्मे, जिनमें छिपी हुई आँखें – मोटी–मोटी, पर कुछ खोज निकालने की गहनता लिए हुए लगातार सीधी सामने देखती जा रही हैं, मानो मार्ग–दर्शन के अतिरिकत उनका कोई बाह्य कार्य ही न हो। उनके मुख पर चमकने वाले तेज से दर्शक के ध्यान में यह आभास झलक जाता था कि वह एक गम्भीर विचारक हैं। ..... गम्भीरता की मौन मूर्ति शुक्ल जी सीधे सादे सरल व्यक्ति थे। ..... उनके आन्तरिक गाम्भीर्य पर बाह्य वांचल्य टकरा–टकरा कर बैरंग लौट आता। उनके ललाट पर उसका प्रभाव प्रकट करने वाली कोई रेखा नहीं दिखाई देती। अहंकार और मानापमान के छिछलेपन से वे ऊपर उठ चुके थे।"

शुक्ल जी स्वभाव से गम्भीर थे। उनके स्वभाव की यह गम्भीरता उन्हें सार्वजनिक जीवन से सदैव दूरी रखने में सहायक रही। वे लोगों से अधिक मिलना–जुलना पसन्द नहीं करते थे। इसलिए लोग प्रायः यह कहा करते थे जो अपने किसी स्वार्थ

को लेकर शुक्ल जी के पास जाया करते थे। शुक्ल जी व्यक्ति का मूल्यांकन के क्षेत्र में केई महत्त्व नहीं था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि शुक्ल जी नीरस व्यक्ति थे। उनके व्यक्तित्व का सही चित्रण श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने इस प्रकार किया है –

"बादाम का छिलका बड़ा कड़ा होता है, किन्तु यदि उसे तोड़ने का कोई परिश्रम कर ले तो उसका गूदा कितना पोषक और स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। शुक्ल जी का व्यक्तित्व इसी प्रकार का था। उसने गम्भीरता का एक प्रायः दुर्भेध आवरण ओढ़ रखा था, परिवारिक परिस्थितियों ने तो इसके स्वरूप–निर्माण में योगदान किया ही था, जिनमें विशेष महत्त्वपूर्ण था – जीवन के प्रति उनका त्यागमय, सन्तोषमय, अनासक्तिमय–दृष्टिकोण, जिसके कारण उनके सामने यह आवश्यकता ही नहीं प्रस्तुत होती थी कि वे अधिकाधिक लोगों के सम्पर्क में आने के लिए व्यय तथा उत्कंठित रहें। सूक्ष्म मनोविज्ञानवेत्ता होने के कारण वे वर्तमान युग को आदान–प्रदान की प्रवृत्तियों को अच्छी तरह पहचानते थे और सदैव उनसे बचकर रहते थे। ऐसी अवस्था में बहुत बड़ी परीक्षा, बहुत बड़ी साधना, बहुत बड़ी पात्रता ही किसी को उनके व्यक्तित्व के अत्यन्त समीप पहुँचाकर उसके प्रकृत–स्वरूप की झाँकी हिला सकती थी – वह प्रकृत स्वरूप जिसमें साहित्य के माध्यम से मानव जीवन को ऊँचा उठाने वाली सरस , रचनात्मक तथा प्रेम और सम्भावनामयी उमंग सर्वोपरि विद्यमान् थी।"

गिरीश जी के उपर्युक्त कथन से शुक्ल जी की यह गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है जिससे सभी लोग आतंकित रहते थे परन्तु जिसके नीचे सदैव एक कोमल, भावुक और जीवनमात्र की कल्याण कामना चाहने वाला भाव–प्रवण हृदय स्पन्दित होता रहता था। कहा जाता है कि शुक्ल जी बचपन में बहुत चंचल स्वभाव के और खिलाड़ी थे परन्तु स्नेहमयी दादी के स्वर्गवास के उपरन्त उरके स्नेह से वंचित होने तथा विमाता के बदले हुए व्यवहार के कारण उनके स्वभाव में एक विलक्षण गम्भीरता आ गई थी जो जीवन के अन्तिम क्षणों तक बनी रही। शुक्ल जी एक सफल अध्यापक के रूप में बहुत प्रसिद्ध थे परन्तु उनकी प्रसिद्धि का मूल कारण उनका अगाध ज्ञान और विलक्षण विवेचन शक्ति ही थी जो कक्षा के वातावरण को कभी–कभी नीरस बना दिया करती थी। उन्हीं दिनों लाला भगवानदीन भी वहीं विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे। लालाजी बड़े सरस स्वभाव के थे इसलिए उनकी कक्षा प्रायः कहकहों से गूँजा करती थी। लाला जी भी कक्षा के साथ दिल खोलकर हँसा करते थे। इसके विपरीत शुक्ल जी की कक्षा में वातावरण सदैव गम्भीर बना रहता था। कक्षा में उन्हें कभी मुस्कराते तक नहीं देखा गया था। वे कक्षा में स्वयं तो नहीं हँसते थे, परन्तु अपने मनोरंजक वाक्यों से अपने विद्यार्थियों को प्रायः हँसाते रहते थे। एक बार वे रत्नाकर जी के

'उद्धव शतक' को पढ़ा रहे थे। पुस्तक सामने रखकर बोले – 'पुस्तक तो अच्छी है', सुनकर विद्यार्थियों ने कागज पेंसिल सम्भाली कि आलोचना लिखा रहे हैं, पर आप आगे कहने लगे – "कागज भी चिकने , छपाई भी नीली बेल–बूटेदार, पर है ऐसी मानो पाठ करने की दुर्गा सपृशती।" कक्षा विद्यार्थियों के ठहाकों से गूँज उठी, पर शुक्ल जी पूर्ववत मौन गम्भीर बने बैठ रहे। शुक्ल जी ऐसी चुटकियाँ वहीं लिया करते थे जहाँ साहित्य लोक–जीवन से हटा हुआ पाते थे।

ऐसे गम्भीर परन्तु साथ ही विनोद प्रिय शुक्ल जी सामाजिक व्यवहार में संक्षिप्तता बरतते हुए भी आध्यन्त सरस और सरल थे। उन्हें भीड़ भाड़ अथवा अधिक लोगों से मिलना–जुलना पसन्द नहीं था। इस कारण वे सभा–उत्सवों आदि में जाने से प्रायः बचते रहते थे। एकान्त साधना उन्हें प्रिय थी। हिन्दी–साहित्य सम्मेलन ने एक बार उन्हें अपना सभापति बनाना चाहा परन्तु भारतव्यापी गौरव प्राप्त करने का यह मोह भी उन्हें विचलित नहीं कर सका। उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया।

हिन्दी साहित्य और भाषा के प्रति शुक्ल जी का मोह निरन्तर बढ़ता ही रहा। इन्होंने अपने संस्मरणों में उस समय के हिन्दी–हितैषियों की हिन्दी के प्रति चिन्ता का वर्णन करते हुए लिखा है – "जिन्हें अपने स्वरूप का संस्कार और उस पर ममता थी, जो अपनी परम्परागत भाषा और साहित्य से उस समय शिक्षित कहलाने वाले वर्ग को दूर पड़ते देखकर मर्माहत थे, उन्हें यह सुनकर बहुत ढाढस होता था कि आधुनिक विचारधारा के साथ अपने साहित्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न जारी है और बहुत से नव शिक्षित मैदान में आ गए है।" जब शुक्ल जी प्रसिद्ध हो गये तब भी उनके मन में हिन्दी की रक्षा और समृद्धि की समस्या उसी रूप में विद्यमान् रही थी। आज हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी अनाधिकारी व्यक्तियों के हाथों उसके स्वरूप को विकृत करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, उसी की पूर्व ध्वनि हमें शुक्ल जी के उस पत्र में मिलती है जो उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के सभापति की हैसियत से, वहाँ से प्रकाशित होने वाली 'हिन्दी' नामक पत्रिका में, समस्त हिन्दी–प्रेमियों के नाम प्रकाशित कराया था।

शुक्ल जी के उपर्युक्त जीवन–चरित्र और स्वभाव को समझ कर हमारी यह धारणा मिट जानी चाहिए कि शुक्ल जी अत्यन्त गम्भीर, नीरस और केवल बौद्धिक साहित्यकार थे। उन्हें अब तक प्रायः इसी रूप में चित्रित किया जाता रहा है। उनकी प्रकाण्ड विद्वता, गहरी अन्वेषक सूक्ष्म दृष्टि, गठी हुई भाषा, सूत्रात्मक शैली आदि को दूर से देख–सुनकर हमारा साहित्य का अध्येता उनसे आतंकित हो उठता है। यह आतंक उसके समझने की शक्ति को भी कुछ सीमा तक कुंठित कर देता है। परन्तु हमें शुक्ल जी के साहित्य का अध्ययन अधिक रुचि, अधिक निष्पक्षता तथा अधिक निष्ठा के साथ करना चाहिए और यह अध्ययन ही उनके प्रति व्याापक रूप से फैली हुई इस भ्रान्त धारणा को निर्मूल कर उनका वास्तविक महत्त्व स्पष्ट कर सकेगा। शुक्ल जी गम्भीर और सरस, शास्त्रीय

और सरल, आलोचक और कवि – दोनों ही प्रकार के व्यक्ति थे। उनसे आतंकित होने की आवश्यकता नहीं। उनके व्यक्तित्व और स्वभाव को भर्म कर उनके साहित्य को समझने की आवश्यकता है। उनके जीवन, व्यक्तित्व और स्वभाव का इतना विस्तृत विवेचन करने की आवश्यकता इसीलिए अनुभव हुई कि हमारे विद्यार्थी शुक्ल जी से आतंकित होकर उनके सम्मुख श्रद्धा से ही केवल नतमस्तक न हों, बल्कि उन्हें उसी प्रकार प्यार कर सकें – जैसे वे अमर–प्रेम के अन्धे गायक सूर को और लोक–उद्धारक तुलसी को प्यार करते हैं।

शुक्ल जी की प्रतिभा का प्रस्फुटन साहित्य की अनेक विधाओं के रूप में हुआ था – वे आलोचक, निबन्धकार, कवि, अनुवादक, कहानी लेखक, सम्पादक, इतिहास–लेखक आदि सभी कुछ थे। प्रारम्भ में उन्होंने नाटक लिखने का भी प्रयत्न किया था परन्तु उनका एक भी नाटक न तो छप सका, और न पूरा ही हो सका। वे केवल एक बालक के प्रयास मात्र बनकर ही रह गए प्रेमचन्द और प्रसाद आदि की तुलना में परिमाण की दृष्टि से, शुक्ल जी का साहित्य बहुत अल्प है, परन्तु जितना है उसने हिन्दी साहित्य की धारा को बदलने का युगान्तकारी कार्य किया है।

1.1.3 शुक्ल जी का कृतित्व

1. निबन्ध–साहित्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884–1940) की निबंधकार के रूप में ख्याति का आधार 'चिंतामणि' (दो भाग) में संकलित मनोविकारों–भावों पर आधृत वे निवंध हैं, जो 1912–19 की अवधि में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' काशी में छपते रहे थे। 'भय और क्रोध', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'उत्साह', 'श्रद्धाभक्ति', 'करुणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि' तथा 'लोभ' और 'प्रीति' निबंधों में एक हिन्दी लेखक जैसे पहली बार मन–मन्दिर की गहरी वापिका की सीढ़ियाँ उतरता चला गया और एक–से–एक नायाब मोती चुन कर हमारे लिए है, जो कहीं सामान्य तथ्य–कथनों के रूप में, कहीं परिभाषा के रूप में, कहीं मार्मिक सूक्ति के रूप में और कहीं जीवन जीने की सही विधि सुझाने वाले सूत्र–शैली या बीज–मन्त्र के रूप में हैं। वैचारिक गांभीर्य के बीचोंबीच निजी व्यक्तित्व की व्यंजना करते चलना तो मानों कोई इस विद्वान् पंडित और रसिक व्यक्ति से सीखें। मनोभावों का ऐसा गहन विश्लेषण, वर्गीकरण और अध्ययन तो बरसों में किसी निबंधकार के हिस्से आएगा। भाषा की अर्थ–व्यंजकता और चिन्तन की मौलिकता की मुँह–बोलती तस्वीरें खींचने वाला यह निबंधकार हिन्दी निबंध के साम्राज्य का एक चक्रवर्ती सम्राट् ही है। इन्हीं से प्रेरणा–रश्मियाँ लेकर परवर्ती काल में कितने ही निबन्ध–चन्द्रमा हिन्दी साहित्यकोश में उदित हो सके हैं।

इनके साहित्यिक निबन्ध हैं – 'कविता क्या है', 'साधारणीकरण और व्यक्ति–वैचित्र्यवाद' (डॉ. रामनिवास गुप्ता ने इन्हें दो निबंधों के रूप में गिनाया है, पृ. 515) 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र', 'तुलसी का भक्तिमार्ग' इत्यादि।

आलोचना

हिन्दी संसार ने शुक्ल जी को जिस प्रकार 'सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार' घोषित किया था उसी प्रकार एक स्वर से आलोचक सम्राट् की पदवी से भी विभूषित किया था। हिन्दी आलोचना–शास्त्र के प्रौढ़ जागरण का प्रस्फुटन सर्वप्रथम शुक्ल जी के रूप में हुआ था, यद्यपि बालमुकुन्द गुप्त जैसे साहित्य मनीषी इसका प्रारम्भ पहले से ही कर चुके थे। शुक्ल जी ने गुप्त जी द्वारा प्रारम्भ की गई वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति को प्रौढ़ता प्रदान कर हिन्दी आलोचना की उसकी अपरिपक्व स्थिति से निकाल कर एक सशक्त आधार दिया था। इनके आलोचना सम्बन्धी अनेक निबन्ध तथा ग्रन्थ हैं। निबन्धों से 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था, रसात्मक बोध के विविध रूप प्रमुख हैं। आलोचना के क्षेत्र में ग्रन्थ के रूप में उनकी सबसे बड़ी कृति 'रस–मीमांसा' मानी जा सकती है। यह ग्रन्थ काफी अरसे से एक प्रकार से लुप्तप्राय–सा पड़ा रहा था। अब इसकी तरफ हिन्दी संसार का ध्यान आकृष्ट हुआ है। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने जायसी, तुलसी और सूर सम्बन्धी विस्तृत आलोचनाएँ लिखीं थी। जो जायसी–ग्रन्थावली, तुलसी–ग्रन्थावली तथा भ्रमरगीत की भूमिकाओं के रूप में लिखी गई थी। और उन्हीं के साथ छपी थीं। अब इन भूमिकाओं को पृथक् पुस्तकों के रूप में भी छापा गया है। इनमें आलोच्य कवियों के विभिन्न साहित्यिक तथा सामाजिक पक्षों का नवीन वैज्ञानिक समीक्षा–पद्धति से पूर्ण मूल्यांकन किया गया है। इन आलोचनाओं से पूर्व हिन्दी में किसी भी आलोचक ने साहित्यकारों की इतनी सन्तुलित, सुव्यवस्थित और शास्त्रीय आलोचना नहीं की थी। उनके पूर्ववर्ती आलोचक रीतिकालीन साहित्य को ही अपना क्रीड़ा–क्षेत्र बना, देव और बिहारी की तुलनात्मक अशास्त्रीय तथा विकृत आलोचना करने में ही व्यस्त रहे। शुक्ल जी द्वारा लिखी गई इन भूमिकाओं के उपरान्त हिन्दी में, इसी शैली में, अनेक सुन्दर आलोचनाएँ निकलीं।

इन्होंने 'काल' और 'प्रवृत्ति' (या साहित्य–चेतना) दोनों ही आधारों को लेकर साहित्य का जो 'काल–विभाजन' दिया है, वह कुछेक अपवादों को छोड़ कर मान्य और लोकप्रिय रहा है। यह श्रेणीकरण इस प्रकार है –

1. **आदिकाल** – 1. अपभ्रंश रचनाएँ
   2. देशभाषा काव्य–वीरगाथा–काल (सं. 1050–1375. वि.)
   3. फुटकल रचनायें।

2. **मध्यकाल** – पूर्वमध्य काल – 'भक्तिकाल' (सं. 1375–1700 वि.)

भक्तिकालीन काव्य की चार प्रमुख धारायें हैं –

(1) निर्गुणधारा – इसकी भी दो उपशाखायें हैं – (अ) ज्ञानाश्रयी शाखा – अर्थात् सन्तकाव्यधारा (आ) प्रेमाश्रयी शाखा – अर्थात् सूफी काव्यधारा।

(2) सगुणधारा – इसकी भी दो शाखायें हैं – (अ) रामभक्ति–शाखा (आ)

कृष्णभक्ति शाखा तथा फुटकल रचनायें।

3. उत्तरमध्य काल—रीतिकाल — (सं. 1700—1900 वि.)

4. आधुनिक काल — गद्यकाल (सं. 1900—1980 वि.)

(1) गद्य का आविर्भाव (2) गद्य का प्रवर्त्तन — (क) प्रथम उत्थान (ख) गद्य प्रसार — द्वितीय उत्थान (ग) गद्य की वर्तमान गति—तृतीय उत्थान।

काव्य—काल (या खण्ड) — (सं. 1900 से अद्यावधि)

1. पुरानी धारा 2. नई धारा — प्रथम उत्थान (सं. 1925—50 वि.) 3. नई धारा — द्वितीय उत्थान (सं. 1950—75 वि.) 4. नई धारा —तृतीय उत्थान (सं. 1975 से अद्यावधि)

आचार्य शुक्ल ने 'काल' के आधार पर तो काल—विभाग किया है, जबकि साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण। पहले आधार की प्रेरणा उन्होंने मिश्रबंधुओं से ग्रहण की जबकि दूसरी प्रेरणा जार्ज ग्रियर्सन से ली। यहाँ प्रमुख भेद केवल चार ही हैं और हिन्दी साहित्य के आरंभ को भी अपभ्रंश भाषा के काल (सन् 1500—1000ई.) से ही माना है, जिसकी अवधि लगभग 500 वर्ष रही।

सम्पादन

सम्पादन के क्षेत्र में भी हिन्दी संसार को शुक्ल जी का लोहा मानना पड़ा था। आप एक सिद्धहस्त सम्पादक थे। आपने दो प्रकार का सम्पादन कार्य किया था — (1) प्राचीन ग्रंथों और कोश का सम्पादन तथा (2) पत्रिकाओं का सम्पादन। सम्पादक के रूप में शुक्ल जी की प्रतिभा का सर्वप्रथम प्रकाशन 'हिन्दी शब्द—सागर' के सहायक सम्पादक के रूप में हुआ। कोश का सम्पादन करना और वह भी तब—जब आनके सामने आदर्श रूप में कोई कोश न हो, लोहे के चने चबाना है।

शुक्ल जी ने 'हिन्दी शब्द—सागर' के सम्पादन का अपना उत्तरदायित्व जिस सफलता तथा श्रम के साथ निभाया उसने उन्हें प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर ला बैठाया और हिन्दी—साहित्य को एक बृहद् और प्रामाणिक कोश के साथ ही उसके इतिहास की एक सर्वांग सुन्दर और पूर्ण रूपरेखा भेंट स्वरूप प्रदान की।

प्राचीन ग्रन्थों में से उन्होंने जायसी—ग्रन्थावली, तुलसी ग्रन्थावली एवं सूर के भ्रमरगीत का सम्पादन किया था। जायसी—ग्रन्थावली का पाठ फारसी लिपि में लिखे ग्रन्थों की अनेक प्रतियों के पाठों के आधार पर शुद्ध करके निश्चित किया गया है। उसमें भाषा की शुद्धि की ओर भी पूरा ध्यान रखा गया है। उसके पाठ को पूर्वी अवधी के शुद्ध रूप को ध्यान में रखते हुए ही अन्तिम रूप प्रदान किया गया है, क्योंकि 'पद्मावत' की भाषा पूर्वी अवधी है। 'तुलसी—ग्रन्थावली' में तुलसी की चुनी हुई कृतियों का संग्रह कर उनका यथा—शक्य शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न मिलता है। इसकी भाषा प्रायः पश्चिमी अवधी है। इसके उपरान्त उन्होंने

सूरदास के 'भ्रमरगीत' का सम्पादन किया है। उसे देखकर यह ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा व्याकरण पर भी शुक्लजी का कितना अपरिमित अधिकार था। उक्त सम्पादित ग्रन्थों को देखकर इस बात का सहसा विश्वास नहीं होता कि कोई एक ही व्यक्ति पूर्वी अवधी, पश्चिमी अवधी तथा ब्रजभाषा – जैसी तीन साहित्यिक भाषाओं और उनके व्याकरण पर पूर्ण अधिकार रखता हुआ इस कार्य को अकेला ही सम्पन्न कर सका होगा।

4. काव्य

शुक्ल जी की कविता के दो विभाग किये जा सकते हैं – (1) स्फुट काव्य, (2) प्रबन्ध काव्य। स्फुट काव्य के रूप में शुक्ल जी ने कई प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। कुछ कविताओं पर संस्कृत के प्राचीन कवियों का प्रभाव है। इनमें से कुछ में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण पाया जाता है तथा कुछ में प्रकृति के प्रति आग्रह मात्र है। इनमें उनका समीक्षक रूप ही अधिक उभर कर आता है। उनकी अन्य प्रकार की कविताएँ ऐसी हैं जिनमें कवि ने अपने समाज की दशा से व्यथित होकर अपने ह्रदयगत भावों की मार्मिक व्यंजना की है। तीसरी प्रकार की ऐसी फुटकर कविताएँ भी उन्होंने लिखी हैं, जिनमें किसी सामान्य सामाजिक हित की बात सीधे–सादे ढंग से कही गई है। इनमें संश्लिष्ट प्रकृति–चित्रण और मार्मिक व्यंजना दोनों का अभाव है। ऐसी कविताएँ साधारण स्तर की हैं। सन् 1904 की 'सरस्वती' में छपी इनकी अनेक ऐसी कविताएँ मिलती हैं जिनमें इन्होंने प्रकृति के विभिन्न उपादानों – पशु, पक्षी, फूल आदि को मानव–जीवन के सम्पर्क में रखकर देखने की चेष्टा की है। एक कविता में उन्होंने कोयल, मानव, भ्रमर, समीर आदि को सम्बोधन कर उस भूमि को त्याग देने का अनुरोध किया है जहाँ के निवासियों ने सौन्दर्य–बोध और रसानुभूति का सर्वथा त्यागकर रखा है। ये कविताएँ खड़ी बोली और ब्रज – दोनों भाषाओं में लिखी गई हैं।

अनुवादक

शुक्ल जी एक सफल अनुवादक अवश्य थे। 'बुद्ध चरित' का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है जिसमें मौलिक ग्रन्थ का सा आनन्द मिलता है। परन्तु यह अनुवाद तो उन्होंने बहुत बाद में किया था। कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दी में लिखना अनुवाद से ही प्रारम्भ किया था। उन्होंने अनेक लेखों के अतिरिक्त पाँच अंग्रेज़ी की तथा एक बँगला की – इस प्रकार कुल मिलाकर छः पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया था। अंग्रेज़ी पुस्तकों के अनुवादों में पहला अनुवाद 'मेगस्थानीज़ का भारतवर्षीय विवरण' है। दूसरा एडलीसन के "Essays on Imagination" का 'कल्पना का आनन्द' नामक अनुवाद है। तीसरा 'Plain living & High Thinking' का अनुवाद 'आदर्श जीवन' है। चौथा 'विश्वप्रपंच' के नाम से 'The Riddle of Universe' का अनुवाद है। पाँचवाँ 'बुद्ध चरित्' है। छठा बंगाल के प्रसिद्ध

उपन्यासकार राखालदास बन्धोपाध्याय के 'शशांक' नामक उपन्यास का इसी नाम से हिन्दी में रूपान्तर है।

1.1.4 निबन्ध की परम्परा में शुक्ल जी का स्थान

भारतेन्दु युग को निबन्ध–साहित्य का जनक माना जाता है। उस समय समाज में नवीन सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। इस नवीन चेतना का प्रतिनिधित्व और प्रकाशन हिन्दी की तत्कालीन पत्र–पत्रिकाएँ – हरिशचन्द्र चन्द्रिका, हरिशचन्द्र मैगज़ीन, ब्राह्मण, हिन्दी–प्रदीप, सार–सुधानिधि, आनन्द कादम्बिनी आदि कर रही थी। हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध छोटे–छोटे लेखों के रूप में, जो समाचार विषयों, विभिन्न सामयिक आन्दोलनों, धार्मिक समस्याओं आदि पर प्रकाश डाला जाता था। इन निबन्धों के लेखक इन्हीं पत्रिकाओं के सम्पादक होते थे, इसलिए उनके लिखे निबन्धों में पत्रकारिता की झलक आ पाना अनिवार्य था। इसी कारण इन निबन्धों में विषय की विविधता, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता, शैली की रोचकता और गम्भीरता आदि गुण आ गये थे और इसी कारण उनमें गौरव का अभाव भी पाया जाता है। उस समय इस कार्य के लिए निबन्ध ही एकमात्र सशक्त माध्यम था, इसलिए उस युग में निबन्धों का खूब विस्तार हुआ।

इस काल के लेखकों ने साधारण और गम्भीर – दोनों ही विषयों पर निबन्ध लिखे। उस समय गद्य का कोई एक सर्व–स्वीकृत रूप न होने के कारण उनकी शैलियों में वैयक्तिक प्रयास ही अधिक लक्षित होता है। उनकी भाषा जन–साधारण की है जिसमें स्थानीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है। उनमें न पांडित्य–प्रदर्शन की भावना है और न बुद्धि का चमत्कारपूर्ण वैभव। ये प्रारम्भिक सभी निबन्ध लेखक जिन्दादिल, सरस और कल्पनाशील थे, इसी कारण इनके निबन्धों में वैयक्तिक विशेषताएँ, हास्यविनोद, व्यंग्य, निश्छलता आदि गुण अपने आप आ गये हैं।

इस काल के निबन्धों की विशेषता का उद्‌घाटन करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है – "जितनी सफलता भारतेन्दु– युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्यप्रति निबन्ध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर आई थी। बात यह है कि निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे। उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कहकर संतोष न कर सकते थे। वे उससे आसत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुलमिल कर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे। ..... साहित्य की सच्ची सप्राणता उसी शैली से है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय नहीं बन सकता। इसलिए भारतेन्दु–युग की

गद्य–शौली के सबसे चमत्कापूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।"

भारतेन्दु–युगीन जनवादी निबन्ध द्विवेदी युग में आकर बुर्जुवा अर्थात् आभिजात्य वर्गीय बन गया और यही कारण साहित्यिक आलोचना तक ही सीमित रह गया। यद्यपि अन्य विषयों से सम्बन्धित निबन्ध आज भी लिखे जा रहे हैं परन्तु साहित्य की सामूहिक प्रगति को देखते हुए साहित्य का यह अंग बहुत निर्बल हो गया है और इसे निर्बल बना देने का श्रेय द्विवेदी युगीन अत्याधिक नैतिकता को ही दिया जा सकता है।

द्विवेदी युग से निबन्धों के विषय में अन्तर आ गया। साधारण विषयों के स्थान पर गम्भीर विषय अपनाये जाने लगे। विषयों के इस विस्तार के कारण भाषा की शक्ति बढ़ी। अब निबन्ध मात्र मनोरंजन के साधन न रहकर शुद्ध–उपयोगिता के आधार माने जाने लगे। इसके साथ ज्ञान–विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ी। फलस्वरूप पुरातत्व, इतिहास, समाज नीति, आलोचना आदि से सम्बन्धित गंभीर शोधपूर्ण निबन्ध लिखे जाने लगे। इनका रूप निबन्ध की अपेक्षा प्रबन्ध का ही अधिक रहा। विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सुन्दर निबन्धों के अनुवाद भी हुए। परन्तु एक अन्तर आ गया। इनमें हार्दिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो चला जिससे निबन्ध की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'व्यक्तित्व' गायब होने लगा। लेखकों ने साहित्य की अपेक्षा नैतिक आदर्शों का ध्यान अधिक रखा। इसका परिणाम यह निकला कि ये निबन्ध द्विवेदी जी के शब्दों में 'ज्ञान राशि के संचित कोश' तो बना है जिसे पढ़कर पाठक फड़क उठे। उपदेशों को निबन्ध मानना अपनी बुद्धि का दिवालियापन घोषित करना है।

1.1.5 निबन्ध साहित्य में शुक्ल जी का स्थान

शुक्ल जी से पूर्व निबन्ध क्षेत्र में लगभग सभी विषयों पर लिखा जा चुका था। परन्तु जिस प्रकार के निबन्धों की रचना शुक्ल जी ने की। इस प्रकार के निबन्धों की सत्ता किसी भी पूर्ववर्ती निबन्धकार में नहीं मिलती। यदि भारतेन्दु जी गद्य के जनक हैं, पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी परिष्कारक, तो आचार्य शुक्ल को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने हिन्दी गद्य को शिखर पर पहुँचाया। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल जी का निबन्ध साहित्य में स्थान सर्वोपरि है।

शुक्ल जी ने भावों और मनोविकारों पर निबन्ध रचना करके हिन्दी साहित्य को एक अभिनव वस्तु प्रदान की है। निस्सन्देह उनसे पूर्व इस प्रकार के कतिपय निबन्ध रचे गये। जैसे – बालकृष्ण भट्ट जी का इन लोगों का विषय को प्रतिपादित करने का ढंग ही दूसरा था। ये लोग भावों पर दृष्टि डाल कर ही रह जाते थे – उनकी गहराई में नहीं जाते थे। शुक्ल जी ने भावों तथा मनोविकारों के व्यवहारिक तथा सामाजिक दोनों पक्षों पर समान्तर महत्त्व देकर उनकी समाज पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसका भी सूक्ष्म विवेचन करके मनोविज्ञान की एक नई मान्यता की साहित्य में स्थापना की। इन भावों का ऐसा सूक्ष्म तथा मनोहारी

विश्लेषण इनसे पूर्व किसी भी विद्वान् ने नहीं किया। यह शुक्ल जी की निजी विशेषता है जिसके कारण वह पूर्ववर्ती निबन्धकारों से बहुत आगे बढ़ गये हैं।

शुक्ल जी से पूर्व कुछ आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे गये। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने कवि और कविता पर समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखा, पर इस क्षेत्र में शुक्ल जी की दृष्टि बड़ी व्यापक थी। उनका गूढ़ चिन्तन तथा विषय को प्रतिपादित करने की शैली इस प्रकार के निबन्धों में भी अग्रणी रहने में समर्थ हुई है। आचार्य वर्तमान युग के प्रमुख शैलीकार थे। शुक्ल जी ने विषय तथा शैली का जैसा सुन्दर सामंजस्य किया है, वैसा किसी अन्य लेखक में प्राप्त नहीं होता। आपके निबन्ध 'चिन्तामणि' के दो भागों में संगृहीत हैं। प्रथम भाग में कुल मिलाकर 17 निबन्ध हैं। इनमें अधिकांश भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गये हैं तथा कतिपय निबन्ध काव्य–शास्त्र या आलोचना पर लिखे गए हैं। द्वितीय भाग में केवल तीन लम्बे निबन्ध हैं –'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'काव्य में व्यंजनावाद' जोकि समीक्षात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी निबन्धों की विशेषता यही है कि प्रत्येक निबन्ध शैली के गुणों से विभूषित हैं। इनकी शब्दावली प्रधानतः संस्कृत–गर्भित है परन्तु उसमें भाषा की मनोरंजकता है तथा भाषा प्रवाहमयी है। शुक्ल जी ने ऐसे निबन्ध तथा आलोचना–साहित्य का सृजन किया, जिसमें मौलिकता थी तथा जिसमें तत्त्व की प्रधानता थी। साहित्य में गूढ़ चिन्तन तथा सूक्ष्म विश्लेषण का आरम्भ शुक्ल जी ने ही किया। पं. बालकृष्ण भट्ट तथा पं. प्रतापनारायण मिश्र आदि की गणना आज भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकारों में की जाती है किन्तु शुक्ल जी का महत्त्व इनसे भी अधिक है कारण कि इनके द्वारा निबन्धों को प्रौढ़ता मिली। इन्होंने निबन्ध तथा आलोचना के क्षेत्र में कतिपय नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की तथा विषयों के प्रतिपादन में नवीन दृष्टि को अपनाया। इसी कारण परवर्ती निबन्धकारों में भी उनको विशेष महत्त्व दिया जाता है तथा वे सर्वोत्कृष्ट निबन्धकार सिद्ध होते हैं।

शुक्ल जी उसी निबन्ध को श्रेष्ठ निबन्ध मानते हैं जिसमें अभिनव विचारों की उद्‌भावना की गई हो। इसलिए उनकी एक पंक्ति भी ऐसी लिखी हुई नहीं प्राप्त होती जिसमें किसी मौलिक विचार की उद्‌भावना न की गई हो। उनके लिखने का ध्येय लिखने मात्र के लिये नहीं था, अपितु वही ऐसे साहित्यकार थे, जोकि जीवन की अमूल्य निधि को दूसरों पर न्यौछावर करने वाले होते हैं। जीवन से जो कुछ उन्होंने प्राप्त किया साहित्य रूप में दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास किया। अतः उसमें जो कुछ भी हमें प्राप्त हुआ वह सर्वथा अलभ्य था। उनका एक–एक वाक्य साहित्यकारों के लिये ब्रह्मवाक्य बन गया। यदि शुक्ल जी ने जायसी पर न लिखा होता तो सम्भवतः जायसी को आज कोई भी न जान पाता। वस्तुतः ऐसा मौलिक लेखक हिन्दी साहित्य को आज तक न प्राप्त हो सका।

शुक्ल जी ने अपने विचारों के स्पष्ट करने के लिए सूत्र–शैली तथा व्यास–शैली का प्रयोग किया है। किसी विचार को वह सूत्र रूप में कहकर पुनः उसकी व्याख्या करते

हैं। स्पष्टीकरण के लिए वह विषय का विभाजन कर लेते हैं और क्रमानुसार उसे स्पष्ट करते जाते हैं। कई स्थलों पर शुक्ल जी ने समास–शैली तथा व्यास–शैली का एकसाथ प्रयोग किया है। जैसे 'श्रद्धा–भक्ति' निबन्ध में पहले वह सूत्रात्मक शैली में कहते हैं 'प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार' और पुनः इसकी व्याख्या करते हुए व्यास शैली का प्रयोग करते हैं। 'लोभ और प्रीति' में लोभ तथा प्रेम विषय में अपने विचारों को मूल रूप में इस प्रकार कहते हैं – "लोभ वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं।" तत्पश्चात् विस्तारपूर्वक इसकी व्याख्या करते हैं। वह केवल 'सु' या 'कु' की चर्चा करके ही सन्तुष्ट नहीं होते अपितु विषय की तात्त्विक विवेचना करते हैं। इस प्रकार ऐसा कहना समीचीन ही है कि शुक्ल जी आज के सर्वोत्कृष्ट निबन्धकार हैं। आचार्य द्विवेदी तथा बाबू गुलाबराय जी ने शुक्ल जी के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है। आचार्य द्विवेदी जी का कथन है, "शुक्ल जी प्रभावित करते हैं तथा लेखक उनसे डरता है, पण्डित सिर हिलाता है।" बाबू जी के कथानुसार, "यह निर्विवाद है कि गद्य साहित्य की और विशेष कर निबन्ध साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने में शुक्ल जी अद्वितीय है। इस नाते हम इनको युग–निर्माता भी कहें तो भी कुछ अनुचित न होगा।"

शुक्ल जी के अधिकतर दो प्रकार के निबन्ध मिलते हैं, जिनके विषय के अनुसार दो विभाग किए जा सकते हैं – (1) जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अर्थात् सामान्य विषयों पर लिखे गए निबन्ध तथा (2) साहित्य–शास्त्र से सम्बन्धित, अर्थात् आलोचनात्मक निबन्ध। इन्हें क्रमशः रचनात्मक और विचारात्मक भी कह सकते हैं। इनके रचनात्मक निबन्धों में इन निबन्धों की गणना की जाती है जो मनोविज्ञान (शुद्ध शास्त्रीय मनोविज्ञान नहीं) को आधार बनाकर लिखे गये हैं, जैसे – उत्साह, करुणा, क्रोध, ईर्ष्या, श्रद्धा, भक्ति आदि। इन निबन्धों में शुक्ल जी का यह प्रयत्न रहा है कि किसी वस्तु या भाव के स्वरूप को स्पष्ट करके 'वह क्या है और क्या नहीं है' – इसकी व्याख्या कर उसे पाठक को हृदयंगम करा दिया जाए। इन रचनात्मक अथवा जीवन से सम्बन्धित निबन्धों में उन्होंने प्रायः दो प्रकार की शैलियों को अपनाया है : (1) कहीं–कहीं पर उन्होंने व्याख्या और विवेचन कर उसके आधार पर निष्कर्ष निकाले हैं तथा (2) कहीं–कहीं पहले अपनी मुख्य बात को सूत्ररूप में कहकर फिर विस्तार के साथ उसका विवेचन और व्याख्या की है।

शुक्ल जी के इन रचनात्मक निबन्धों में, तथ्य विवेचन में भावुकता और व्यक्तित्व का आवेश है। इसलिए भाषा सरल, चलती हुई किन्तु 'साहित्यिक उत्कृष्टता' से मण्डित है। वाक्य–रचना सरल और वाक्य छोटे–छोटे हैं। शैली व्याख्यात्मक है। बीच–बीच में व्यंग्य–विनोद के छींटों से उसमें अपूर्व आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। शुक्ल जी व्यापक जीवन–दर्शन और अध्ययन के साथ उनके स्वतन्त्र चिन्तन और भावुकता का ऐसा कलात्मक समन्वय इन निबन्धों में हुआ है – जिससे प्रतिपाद्य विषय में एक विशिष्ट उत्कर्ष, आकर्षण और गाम्भीर्य आ गया है। इन्हें पढ़कर चिन्तन के विकास के लिए नए क्षेत्र की उपलब्धि अनायास ही हो जाती है।

साहित्य–शास्त्र सम्बन्धी अथवा विचारात्मक अथवा आलोचनात्मक निबन्धों में 'काव्य में रहस्यवाद', लोकमंगल की साधनावस्था' आदि निबन्धों की गणना की जाती है। इन निबन्धों में उस भावुकता, काव्यात्मकता, चित्रमयता, रूप–योजना आदि का, जिनके दर्शन उनके रचनात्मक निबन्धों में होते हैं। अधिक सशक्त रूप दिखाई पड़ता है परन्तु सर्वत्र एक विशेष प्रकार की गम्भीरता और तीक्ष्णता लिए हुए इन निबन्धों में शुक्ल जी विचारों को संगठित करने, उन्हें क्रमानुसार वाक्यों द्वारा अभिव्यक्ति देने, वाक्यों को अनुच्छेदों में कसने तथा अनुच्छेदों को व्यवस्थित कर केन्द्रीय विचारधारा को विकसित करने के प्रयत्न में लगे दिखाई देते हैं। इसीलिए ये निबन्ध अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर, दुरूह और जटिल हो उठे हैं। उन्हें समझने के लिए पाठक को केन्द्रीय विचारधारा को साामने रखते हुए पूर्वपर क्रम का ध्यान रख आगे बढ़ना पड़ता है, तभी उनमें छिपे हुए विस्तृत विवेचन और गम्भीर तर्कपूर्ण ज्ञान की उपलब्धि सम्भव होती है। यदि पाठक स्वयं शुक्ल जी के साथ कदम बढ़ाये हुए आगे चलने में लड़खड़ा उठता है तो उन पर दुरूहता, जटिलता, किलष्टता आदि का आरोप लगाकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाने का प्रयत्न करने लगता है। इसलिए हमें इन निबन्धों को पूर्णतः स्वस्थ और एकाग्र चित्त होकर पढ़ना चाहिए।

शुक्ल जी ने इन विचारात्मक निबन्धों में किसी मत अथवा सिद्धान्त के सम्बन्ध में फैले हुए भ्रम का निराकरण कर यथार्थ सत्य का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न किया है। इनमें उनकी खण्डन–मण्डन की प्रवृत्ति अधिक उभर कर आती है जिससे उनकी अद्‌भुत तर्क–क्षमता, आत्मविश्वास तथा विपक्षी पर निर्मम प्रहार कर स्वमत को ही मान्य और अन्तिम समझने की प्रवृत्ति दर्शन होते हैं। हिन्दी आलोचना–जगत् में इन्हीं निबन्धों ने तहलका मचाकर प्राचीन घिसी–पिटी मान्यताओं का मूलोच्छेदन करने के साथ–साथ हिन्दी को नवीन विदेशी आकर्षक परन्तु समाज–विरोधी घातक विचारधाराओं से बचाया था। प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे के अभिव्यंजनाबाद का खण्डन शुक्ल जी ने इसी कारण कर साहित्य के कलावादी वर्ग पर निर्मम प्रहार करते हुए साहित्य के लोकमंगलकारी पक्ष पर विशेष बल दिया था।

इन विचारात्मक निबन्धों में वैज्ञानिक और तुलनात्मक विवेचन के सभी– सिद्धान्तों की प्रौढ़ स्थापना का आवेश है। इसी कारण शैली में क्लिष्टता स्वभावतः आ गई है। वाक्य काफी लम्बे–लम्बे हैं, व्यंग्य और सरसता फिर भी सर्वत्र पाई जाती है।

कहा जाता है–"शुक्ल जी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है और जीवन अध यापक का है" इसी कारण हृदय की सरलता और करुणा उनके मस्तिष्क की गम्भीरता के साथ घुल–मिल कर ऐसी उदात्त कल्याण–भावना की सृष्टि करती है जो उनके निबन्धों के प्रभाव तथा सौन्दर्य को कई गुना अधिक बढ़ा देती है। साथ ही गहन विचार–बीथियों के बीच–बीच सरस भावस्रोत मिलते हैं। उस समय की उनकी तन्मयता दर्शनीय होती है। ऐसे स्थलों पर विषय–वस्तु का गठन, भाषा का गम्भीर रूप, प्रवाह और ओज प्रचुर मात्रा में अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। कहीं–कहीं गम्भीर हास्य के छींटे भी मिल जाते हैं। जो उस गहनता और

गम्भीरता के भार को क्षण भर के लिए हल्का बना देते हैं। इससे उनके निबन्ध 'लोहे के चने' बनने से बच जाते हैं। विचारधारा शृंखलित रूप और तर्क के सहारे आगे बढ़ती है जिसका प्रकाशन समास शैली द्वारा होता है। अपनी इस विशेषता द्वारा उन्होंने द्विवेदी–युग की नीरस शास्त्रीय गद्य–शैली को एक नया रूप देकर उसे बहुत ऊँचा उठा दिया उसमें ऐसी शक्ति का संचार किया जो आज हिन्दी आलोचना तथा निबन्ध साहित्य को निरंतर गतिशील बनाये हुए हैं।

विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से उनमें एक वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है। उनके 'घनीभूत वाक्यों की ध्वनि' बहुत दूर तक जाती है। साथ ही इन निबन्धों में अपने स्वतन्त्र चिन्तन, मौलिक काव्य–सिद्धान्त, वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति द्वारा शुक्ल जी अपने सशक्त व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप डालते हैं कि उनके निबन्ध 'शैली ही व्यक्ति है' (Style is the man) उक्ति के पूर्ण प्रतीक बन जाते हैं। उनके निबन्धों के किसी भी अंश को देखकर हम तुरन्त कह उठते हैं – "अरे! यह तो शुक्ल जी बोल रहे हैं।" हिन्दी में तीन गद्य लेखक ही ऐसे हुए हैं जिनके लिखे किसी भी अंश को देखकर हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि ये पंक्तियाँ तो अमुक लेखक की लिखी हुई हैं। ये तीन लेखक हैं – प्रसाद, प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल।

शुक्ल जी ने अपने निबन्ध मानसिक विलास, खंडन–मंडन अथावा विद्वता–प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं लिखे थे। इनके लिखने में उनका एक महान् उद्देश्य था। वे इनके द्वारा नई पीढ़ी के लेखकों को सत् , सशक्त तथा मौलिक साहित्य सृजन करने की प्रेरणा देना चाहते थे। वे देश प्रेमी थे, अपनी संस्कृति के अनन्य उपासक थे, इसलिए वे चाहते थे कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को जनता स्वीकार करे, उनका प्रचार हो जिससे भ्रम, विदेशयता तथा प्राचीन काव्य सिद्धान्तों के मोह में ग्रस्त लोगों का उद्धार हो सके और इसके लिए उन्होंनो प्रायः व्यंग्य का – कटीले व्यंग्य का सहारा लिया था जिसके लिए उन्हें बदनाम किया जाता है। ऐसे व्यंग्यों ने उनके निबन्धों को नीरस तथा कटु होने से बचाया ही है। शुक्ल जी की इस पुनीत भावना, उनके महान् उद्देश्य तथा चुभते हुए व्यंग्य की सार्थकता को स्पष्ट करने के लिये हम नीचे केवल एक उदाहरण दे रहे हैं – "वर्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से ज़रा भी इधर–उधर होने की कल्पना भी नहीं कर सकते बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं, उन्हें विलायती समीक्षा–क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरोप के ग्रन्थकारों की नाम माला जपने से फुरसत नहीं। अब रहे उच्च आधुनिक शिक्षा–प्राप्त 'संस्कृत स्कॉलर' नामक प्राणी। वे तो भारतीय वाङ्मय में जो कुछ हो चुका है, उसी को संसार के सामने – संसार का अर्थ आजकल योरोप और अमेरिका लिया जाता है – रखने में लगे हैं। यही उनका परम पुरुषार्थ है। उन्हें अपने साहित्य को आगे बढ़कार उन्नत करने से क्या प्रयोजन !"

शुक्ल जी के बाद हिन्दी–निबन्ध के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। उनकी परम्परा में उन निबन्धकारों का नाम लिया जा सकता है – जो शैली और विचार की दृष्टि से तो उनसे नहीं मिलते, पर साहित्य को उन्हीं के समान जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। इनमें नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा आदि प्रमुख हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी में एक विशेष सांस्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ–साथ विनोदप्रियता भी है। रामविलास शर्मा के विचारों और शैली में स्पष्टता, तीखापन, सरलता, विवेचन की गहराई और चुटीला व्यंग्य मिलता है। भारतेन्दु युग के उपरान्त, विशेष रूप से बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बाद, इन्हीं के निबन्धों में व्यंग्य मिलता है। भारतेन्दु युग के उपरान्त, विशेष रूप से बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बाद, इन्हीं के निबन्धों में व्यंग्य का इतना विकसित रूप दिखाई पड़ता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी एक भावुक निबन्धकार हैं जो स्वच्छन्दता और सम्वेदनशीलता एक निबन्धाकार के लिये अपेक्षित है, वह इनमें मौजूद है। छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवियों – प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी को सहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्धों के लेखक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनके निबन्ध प्रायः इनके अपने काव्य–संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में लिखे गए हैं।

भावात्मक शैली के निबन्धकारों में राम, कृष्णदास, वियोगी हरि, माखन लाल चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं। यात्रा सम्बन्धी निबन्ध–सत्यदेव, राहुल जी और देवेन्द्र सत्यार्थी ने अच्छे लिखे हैं, विशेषकर राहुल जी ने। शिकार सम्बन्धी लेखों में श्रीराम शर्मा, श्री सिद्धान्तालंकार तथा विराज के लेख सुन्दर हैं। शर्मा जी के शिकार सम्बन्धी निबन्ध अपने ढंग के अकेले हैं। जैनेन्द्र के निबन्ध दार्शनिक की बोझिलता से नीरस हो गए हैं। इनके अतिरिक्त सद्गुरुशरण अवस्थी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रभाकर माचवे, डॉ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, भदन्त बंसल आदि ने भी विभिन्न प्रकार के साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं। यदि सभी आलोचकों को सफल निबन्ध लेखक स्वीकार कर लिया जाये (जो वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से अनुचित होगा) तो आधुनिक काल में निबन्ध लेखकों की एक पूरी सेना खड़ी मिलेगी। संस्मरणात्मक निबन्ध लेखको में बाबू गुलाबराय, महादेवी वर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी के निबन्धों को श्रेष्ठ तथा आदर्श माना जा सकता है।

समष्टि रूप से हमारा निबन्ध साहित्य क्रमशः समृद्ध होता जा रहा हैं। परन्तु एक बात अत्यन्त चिन्तनीय है कि आधुनिक निबन्ध लेखकों में से बहुसंख्या ऐसे लेखकों की है जिनकी रुचि सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक राजनीतिक आदि विषयों की अपेक्षा साहित्यिक – आलोचनात्मक निबन्ध लिखने में अधिक रमती है। आज हिन्दी में आलोचनात्मक निबन्धों की भरमार हो रही है परन्तु उनमें विषय–वैविध्य का अभाव–सा है। अधिकांश निबन्ध उन्हीं पुराने घिसे–पिटे विषयों को ही लेकर चलते हैं। परन्तु इधर कुछ समय से अनेक विश्वविद्यालयों और साहित्यिक संस्थाओं के प्रयत्नों से अनेक गम्भीर तथा शोध सम्बन्धी सुन्दर निबन्धों के कई संग्रह प्रकाश

में आए हैं। हास्य–रस सम्बन्धी निबन्ध भी कभी–कभी मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाओं में दिखाई पड़ जाते हैं। हास्यरसात्मक निबन्ध लेखको में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी आदि बहुत सुन्दर निबन्ध लिख रहे हैं। मनोविज्ञान से सम्बन्धित निबन्धों की ओर भी लेखकों की कम रुचि दिखाई पड़ती है। हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित ऐसे निबन्धों की दृष्टि से, जिन्होंने भारतेन्दु युगीन निबन्ध–साहित्य को इतना समृद्ध बनाया था, आधुनिक युग अत्यन्त दरिद्र है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु युग के स्तर तक पहुँचने में अभी उसे बहुत समय लगेगा।

हिन्दी के निबन्ध–साहित्य का विवेचन करने के पश्चात् प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक शिवदानसिंह चौहान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "हमारे निबन्धकार अनेक दिशाओं से अनेक प्रवृत्तियों और मनोभूमियों को लेकर निबन्ध रचना कर रहे हैं और अपने जीवनानुभव को पाठको तक प्रेषित करने के लिए अनेक शैलियाँ और माध्यम अपना रहे हैं। किंतु फिर भी समग्र रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी के अन्य गद्य रूपों की अपेक्षा निबन्धों का पर्याप्त विकास हो चुका है।"

आज ऐसे निबन्ध लेखको की आवश्यकता है जो आलोचना के क्षेत्र को त्याग कर साधारण विषयों पर निबन्ध लिख सकें। इस क्षेत्र में इधर प्रयत्न आरम्भ हो गया है परन्तु प्रगति सन्तोषजनक नहीं है। आज पुनः शुक्ल जी जैसे निबन्धकारों तथा बालमुकुन्द गुप्त और महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे प्रोत्साहन देने वाले साहित्य मनीषियों की ज़रूरत महसूस की जा रही है।

1.1.5.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. शुक्ल जी को सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहा जाता है। मत की पुष्टि करें।

   .....

   .....

   .....

2. हिन्दी आलोचना में शुक्ल जी का क्या स्थान है? चर्चा करें।

   .....

   .....

   .....

1.1.6 सारांश :

अतः इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी का स्थान निबन्ध–साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डित रामचन्द्र में तीन महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं – पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. प्रताप नारायण मिश्र और पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी। परन्तु तुलना की दृष्टि ये निबन्धकार भी शुक्ल जी के सम्मुख नहीं ठहर पाते। आचार्य ने जहाँ नवीन उद्‌भावनायें की हैं वहाँ विषय के

प्रतिपादन में भी नई दृष्टि को अपना कर निबन्ध–साहित्य को शिखर पर पहुँचाने का प्रयास किया है। अमूर्तभावों को भी अभिव्यक्ति प्रदान कर हिन्दी साहित्य में एक अभिनव विचार को जन्म देकर हिन्दी साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। निस्सन्देह वे उच्चकोटि के निबन्धकार हैं।

1.1.7 प्रश्नावली :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन परिचय दें।
2. शुक्ल जी की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
3. निबन्ध परम्परा में शुक्ल जी के स्थान को आप किस प्रकार स्पष्ट करेंगे। प्रकाश डालें।

1.1.8 सहायक पुस्तकें :

1. रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि भाग–1, भाग–3

पाठ संख्या : 1.2

'श्रद्धा भक्ति'

'श्रद्धा भक्ति' निबन्ध का सार–संक्षेप

इकाई की रूपरेखा :

1.2.0 उद्देश्य
1.2.1 प्रस्तावना
1.2.2 'श्रद्धा भक्ति' निबन्ध का सार संक्षेप
1.2.3 'श्रद्धा भक्ति' : कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण
1.2.4 प्रमुख प्रसंगों की व्याख्या
1.2.4.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.2.5 सारांश
1.2.6 प्रश्नावली
1.2.7 सहायक पुस्तकें

1.2.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत पाठ के पठन के बाद विद्यार्थियों को शुक्ल जी के निबन्ध 'श्रद्धा–भक्ति' के सम्बन्ध में जानकारी मिल जाएगी। इस पाठ में निबन्ध का सार सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

1.2.1 प्रस्तावना :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विकास मूलतः काव्यालोचक के रूप में हुआ है। वे ऐसे पहले आलोचक हैं, जो साहित्य के विभिन्न युगों के भिन्न–भिन्न कवियों, संस्कारों, भाषिक भिन्नताओं तकनीक और शैली की विवेचनाओं से गुजरे हैं। निबन्ध लेखन शुक्ल जी के लिए जीवन की साधना है।

1.2.2 'श्रद्धा भक्ति' निबन्ध का सार–संक्षेप

1. पूज्यभावजन्य आनन्द ही 'श्रद्धा'

किसी मनुष्य में जन–साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके

सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द–पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ–साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जाएगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी व बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायेगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवायेंगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

2. प्रेम और श्रद्धा में अन्तर

प्रेम और श्रद्धा में अन्तर यह है कि प्रेम स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं, कभी–कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखने वाले दो एक ही मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हज़ारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं।

3. प्रेम में दो और श्रद्धा में तीन पक्ष

प्रिय का चिन्तन हम आँख मूँदे हुए, संसार को भुलाकर, करते हैं, पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायेगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनन्दान्तर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जंचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद–भाव उत्पन्न हुआ तो वह श्रद्धा है, क्योंकि यह काव्य या चित्ररूप मध्यस्त–द्वारा प्राप्त हुआ है।

4. श्रद्धा में कर्मों और प्रेम में व्यक्ति की प्रधानता

प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई

उसके कर्मों आदि पर आ जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को 'व्यक्ति–द्वारा'। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

5. लोभ, प्रेम और श्रद्धा

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरन्त मोहित होकर उससे प्रेम कर सकते हैं पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एकमात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है, पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ सम्बन्ध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार में सामाजिकता आ गई, क्योंकि हमें उस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनन्द या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है।

6. श्रद्धा में सामाजिकता की भावना

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ सकता है। श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है, जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधिरूप में प्रकट करते हैं। जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाये जायेंगे, उतना ही वह समाज जागृत समझा जायेगा। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं, उस पर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रखें – जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस–पाँच आदमी प्रेम रक्खें – इसकी हमें परवाह क्या इच्छा ही नहीं होती , क्योंकि हम प्रिय पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते हैं। श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नहीं। जब तक समष्टि–रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अन्तःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किये जाने वाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं। अपने सम्बन्धी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उस पर हमारी श्रद्धा हो गई है, तो यह हमारा पाखंड है, हम झूठ–मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारणकर्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस–पाँच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाय, तब यदि हमारे चित्त में उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता या पूज्य–बुद्धि का उदय हो, तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं।

7. श्रद्धा के तीन प्रकार – स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है –

1. प्रतिभा–सम्बन्धिनी–श्रद्धा
2. शील–सम्बन्धिनी–श्रद्धा
3. साधन–सम्पत्ति–सम्बन्धिनी श्रद्धा

1. प्रतिभा–सम्बन्धिनी–श्रद्धा – प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्‌भाविका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई–नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती है। कला–सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी–बहुत मार्मिक निपुणता चाहिए, इससे उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नहीं, वह क्षम्य है। यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सके, तो यह हमारा अनाड़ीपन है – हमारे रुचि–संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला–सम्बन्धिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना जन–समूह में हो जाय। पर इतना होने पर भी कला–सम्बन्धिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी बहुत अवश्य रहेगी।

2. शील–सम्बन्धिनी श्रद्धा – प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन–समुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य–समाज की स्थिति हैं, अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रुचि–भेद, मत–भेद आदि नहीं। सदाचारी के प्रति हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते।

3. साधन–सम्पत्ति–सम्बन्धिनी श्रद्धा – साधन–सम्पत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास–सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण भावनाओं को छन्दोबद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखने वाले भी बहुत मिल जायेंगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन–सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

बहुत से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उनमें बहुत–सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा, ऐसे महीन बेल–बूटों की भिन्न–भिन्न पटरियाँ दीवारों में जमाई हुई मिलेंगी, जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाये स्पष्ट न जान पड़ेंगी। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा। इसका कुछ भी विचार बनाने वालों ने नहीं किया, यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। ऐसे कामों में अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (या अपव्यय) का पूरा परिचय मिलता है, पर विचार और सहृदयतापूर्वक उनके उपयोग का बहुत

कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ पर लेकर देखने की चीज़ नहीं है, दस–पाँच हाथ पर खड़े होकर देखने की चीज़ है।

ऐसी रचनाओं के प्रति यदि श्रद्धा प्रकट की जायेगी तो वह अभ्यास, श्रम और बारीकी अर्थात् साधन–सम्पन्नता के विचार से होगी, साध्य की पूर्णता अर्थात् कला के विचार से नहीं, जिसका उद्देश्य मानव–हृदय पर मधुर प्रभाव डालता है।

कोरे विद्वानों के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन–सम्पन्नता ही के सम्बन्ध में होती है, उसके उपयोग की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नहीं होती। विद्वता किसी विषय की बहुत–सी बातों की जानकारी का नाम है, जिसका संचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान् की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भण्डारी और उपयोग–कर्त्ता दोनों हो – अर्थात् वह उत्तम चिन्तक, वक्ता, लेखक, अन्वेषक या कवि भी होकर उस संचित साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारों का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे।

8. श्रद्धेय के दोषों की उपेक्षा

यदि किसी को शारीरिक बल, साहस या चतुराई पर अत्यन्त अधिक श्रद्धा है तो वह इनका दुरुपयोग देखकर भी बनी रह सकती है। अत्याचारियों के बल, डाकूओं के साहस और लम्पटों की चालाकी की तारीफ संसार में थोड़ी–बहुत होती ही है। यदि किसी पर किसी एक विषय में अत्यन्त अधिक श्रद्धा है तो उसकी अन्य विषयों की त्रुटियों पर ध्यान नहीं जाता और कभी ध्यान भी जाता है तो वे भी सुहावनी लगती हैं। कोई प्रतिभाशाली कवि विलासप्रिय, मद्य या सनकी है तो जो अत्यन्त काव्य–प्रेमी होंगे उनकी घृणा को उसके ये दुर्गण पूर्ण रूप से आकर्षित न कर सकेंगे। यहाँ तक कि उसके इन दुर्गुणों की चर्चा भी वे बड़ी रुचि के साथ करेंगे और सुनेंगे।

9. पर–श्रद्धा के चिंतन की लत और आनन्दप्रदता

जैसे और सब विद्याओं की, वैसी ही पर–श्रद्धा–कर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। किसी कार्य–साधना के लिए जो लोग प्रयत्न द्वारा दूसरों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करते हैं, वे उस कार्य के अनुसार चतुर, नीति–कुशल, धूर्त या पाखण्डी कहे जाते हैं। पर संसार में बहुत ऐसे लोग भी होते हैं, जिन्हें अपने ऊपर पराई श्रद्धा के चिन्तन से जो एक प्रकार का आनन्द मिलता है, उसकी लत पड़ जाती है। वे पर–श्रद्धा को मनोरंजन या मानसिक भोग–विलास की एक सामग्री समझते हैं ऐसे पर–श्रद्धाभिलाषियों को मानसिक दुर्व्यसन रहता है और वे उसी प्रकार दुर्व्यसनी कहे जा सकते हैं जिस प्रकार शराबी, गँजेड़ और चंडूबाज आदि।

10. श्रद्धा में लाभ की अपेक्षा आनंद

श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा द्वारा श्रद्धेय में कोई ऐसा परिवर्तन उपस्थित नहीं किया जाता, जिसका अपने लिए कोई अनुकूल फल हो। श्रद्धावान् श्रद्धेय को प्रसन्न करने

की इच्छा कर सकता है, पर उस प्रसन्नता से आप कोई लाभ उठाने की नहीं।

कला कुशल या सदाचारी अपने चारों ओर प्रसन्नता देखना चाहता है, अतः अपनी श्रद्धा–द्वारा हम उसे अपनी प्रसन्नता का निश्चय मात्र कराते हैं। हमारी प्रसन्नता से उसे अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा द्वारा हम भी समाज का मंगल साधन करते हैं।

11. श्रद्धा और घृणा में अन्तर

श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमें प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं, क्योंकि श्रद्धा यदि हमने भूल से या स्वार्थवश प्रकट की तो किसी को उतनी हानि नहीं, पर यदि घृणा भूल से या द्वेष–वश प्रकट की तो व्यर्थ का असन्तोष और दुःख फैल सकता है।

12. दान के दो प्रकार

सच्चा दान दो प्रकार का होता है –एक वह जो श्रद्धा–वश दिया जाता है, दूसरा वह जो दया–वश दिया जाता है। पण्डितों, विद्वानों और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धा–वश दिया जाता है, किंतु गरीबों और ज़रूरतमंदों को दिया दान दयावश होता है।

13. श्रद्धा और दान का संबंध

विद्या–दान में रत विद्वानों को, परोपकार में रत कर्म–वीरों को, मानव ज्ञान की वृद्धि में तत्पर तत्त्वान्वेषकों को जो अभाव हो, उसे हम समाज की भूख समझनी चाहिए। उन्हें जो कुछ हम श्रद्धावश देते हैं, वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है। जहाँ से रस–रूप में उसका संचार अंग–अंग होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग में उसी प्रकार नहीं लगता, जिस प्रकार अतीसार या संग्रहणी वाले को खिलाया हुआ अन्न। भारतवर्ष में श्रद्धा का सम्बन्ध दान के साथ इतना गहरा समझा जाता है कि अश्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान निष्फल माना जाता है।

14. भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का योग

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के समीप्य–लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए जब श्रद्धेय के दर्शन श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि से आनन्द का अनुभव होने लगे–जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति रस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे, तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए।

15. आत्मनिवेदन

भक्ति द्वारा हम भक्ति–भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं – उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। किसी के प्रति श्रद्धा धारण करके हम

बहुत करेंगे तो समय–समय पर उसकी प्रशंसा करेंगे, उसकी निन्दा करने वालों से झगड़ा करेंगे या कभी कुछ उपहार लेकर उपस्थित होंगे, पर जिसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति हो जायगी वह अपने जीवन के बहुत से अवसरों पर हमें अपने साथ देख सकता है। वह अपने बहुत से उद्योगों में हमारा योगदान पा सकता है। भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ (परिवार या शारीरिक सुख आदि) से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं। इसी का नाम है – आत्मनिवेदन।

16. श्रद्धा और भक्ति

महात्माओं के ऊपर श्रद्धा मात्र करके हम उन्हें जीवन शक्ति द्वारा उपार्जित कोई फल अर्पित कर सकते हैं, पर उनके भक्त होकर हम उन्हें अपने जीवन ही के कुछ अंश को अर्पित कर देते हैं। किसी वीरव्रती महात्मा पर बहुत श्रद्धालु होकर हम आर्थिक सहायता द्वारा उसके लिए कुछ सुभीता कर सकते हैं, अपने वचनों से उसे प्रसन्न और उत्साहित कर सकते हैं, पर उसके भक्त बनकर हम अपने शारीरिक बल को उसका शारीरिक बल बनाएँगे, अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई बनाएँगे। और इसी प्रकार उसके जीवन में अपने जीवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्त्व या प्रभाव को बढ़ाएँगे और उसके थोड़े–बहुत हम भी भागी होंगे। श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनुमान, अन्य राम–भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

17. भक्त से अधिक भक्ति के अधिकारी का महत्त्व

श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। अपने आचरण द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकरी होकर ही संसार के बड़े–बड़े महात्मा समाज के कल्याण–साधन में समर्थ हुए हैं। गुरु गोबिन्द सिंह को यदि केवल दण्डवत् करने वाले और गद्दी पर भेंट चढ़ाने वाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन–रात साथ रहने वाले अपने सारे जीवन को अर्पित करने वाले भक्त न मिलते तो वे अन्याय–दमन में कभी समर्थ न होते। इससे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोक–हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा–पीछा नहीं हो सकता।

18. दूसरे के महत्त्व–स्वीकार की उदारता

जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान अरुचिकर होगा, वह सापेक्षिकता के भय से ऐसे महत्त्वादर्श का समीप्य कभी न चाहेगा, दूर–दूर भागा फिरेगा। 'हमी–हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते , 'तुम्ही–तुम' की क्या बात है ? ऐसे लोग तो स्वयं अपने लिए भक्त ढूँढने निकलते हैं। भक्ति के लिए दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे और दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे, तब हम उसके महत्त्व के सतत साक्षात्कार के लिए अनेक रूपों में परिचय के लिए उसके सामीप्य की इच्छा

करते हुए उस श्रद्धा में प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रिया–कलाप को अपने पूज्य आराध्य प्रेम–पात्र के अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे।

19. कोरे सिद्धांत कथनों की निरर्थकता

शून्य सिद्धान्त वाक्यों में कोई आकर्षक–शक्ति या प्रवृत्तिकारिणी क्षमता नहीं होती। 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरों की भलाई करो', 'क्षमा करना सीखो' – ऐसे–ऐसे सिद्धान्त–वाक्य किसी को बार–बार बकते सुन वैसा ही क्रोध आता है, जैसे किसी बेहूदे की बात सुनकर। जो इस प्रकार की बातें करता चला जाय उससे चट कहना चाहिए – 'बस चुप रहो, तुम्हें बोलने की तमीज़ नहीं, तुम बच्चों या कोल–भीलों के पास जाओ। ये बातें हम पहले से जानते हैं। मानव–जीवन के बीच हम इसके सौन्दर्य का विकास देखना चाहते हैं। यदि तुम्हें दिखाने की प्रतिभा या शक्ति हो तो दिखाओ, नहीं तो चुपचाप अपना रस्ता लो।'

20. कीर्तन–स्मरण सामीप्य के ही साधन

सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ–साथ लगा रहना नहीं है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि भी सामीप्य ही के विधान हैं। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रयत्नों से सामीप्य की सिद्धि होती है। स्मरण द्वारा हम अपने आराध्य को उसके कर्म–क्षेत्र को अपने अंतःकरण के सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब हम ईष्ट के कर्म–क्षेत्र को सामने लाते हैं, तब उसमें ऐसे लोग भी तो आ जाते हैं, जिन पर हमारी कुछ भी भक्ति नहीं है। हाँ, आते अवश्य हैं।

21. धार्मिक मर्यादा की स्थापना

दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पाँडव जीवन भर मारे–मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाये न मिटती। जिस समाज में दुःख और वैभव के रंग में रंगी अधर्म की ऐसी लीक दिखाई पड़े, उसमें रक्षा करने वाली आत्मा का अभाव तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए।

22. अंतःकरण की सभी वृत्तियों की सार्थकता

अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं – सबका उपयोग है। इनमें किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखिम में डालेगा। अत्याचारी से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है, सुख से सम्पन्न होकर उसके धन्यवाद के लिए हाथ उठाता है, भक्ति से पूर्ण होकर उसके आश्रय की आव्पांक्षा करता है। ये ही व्यवहार वह मनुष्य के साथ भी करता है।

23. समष्टि–रक्षा में ही धर्म

कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते ? उनमें धर्म की प्रतिष्ठा नहीं है – अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नहीं पहुँचे हैं, जिनमें समष्टि–स्थिति की रक्षा से सम्बन्ध रखने वालों का संचार होता है। वे यह नहीं जानते कि एक–दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि–रक्षा या धर्म और प्रवृत्त करने वाले दया आदि भाव उन्हें प्राप्त नहीं है। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नहीं। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की धारणा उन्हें नहीं होती। जहाँ धर्म–भाव है, वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों में जिन भावों का विकास नहीं हुआ है उनमें उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नहीं समझती।

24. पूर्ण पुरुष की खोज और भावना

भक्ति का स्थान जहाँ मानव–हृदय है – वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। वह उस विशद रूप–विशिष्ट का समीप्य चाहता है, उसके हृदय में जो सौन्दर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है, उसे वह अत्यन्त पूर्ण रूप में परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्‌गद हो जाता है और उसका धर्म–पथ आनन्द से जगमगा उठता है। धर्म–क्षेत्र या व्यवहार–पथ में वह अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख एक हिन्दू के हृदय की सारी शुभ और आनन्दमयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती है, उनके प्रेम, श्रद्धा आदि को बड़ा भारी अवलम्ब मिल जाता है। सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य और बल का संचार हो जाता है।

25. राम लीला और कृष्ण लीला में धर्म–रक्षा

जिस समय दूर–दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा–मुकुटधारी विजयी राम–लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से बिंधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं, उस समय वे धर्म के सौन्दर्य पर क्षुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कृष्ण लीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म–रक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, तब हमारी जीवन– धारणा की अभिलाषा दूनी–चौगुनी हो जाती है। मंगल के अवसरों पर उनके गीत गाये जाते हैं। विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, जीवन के कष्ट की, घर की, वन की, सम्पदा की, विपद की जहाँ चर्चा होती है, वहाँ इनका स्मरण किया जाता है।

26. कर्म–सौंदर्य के प्रति अधिक श्रद्धा

संसार में तटस्थ रहकर शान्ति–सुखपूर्वक लोक–व्यवहार–सम्बन्धी उपदेश देने वालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू–धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक विभूति की ज्योति जगाने वालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गये हैं। अपने जीवन–द्वारा

कर्म–सौन्दर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गयें हैं। कर्म–सौन्दर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंचा जान पड़ता है। जो कुछ हम करते हैं – खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना, प्रेम करना, विनोद करना उन सबमें सौन्दर्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे उन्हीं की ओर ढल सकते हैं।

27. क्षात्र–धर्म का पालन और लोक–रक्षा

जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र–धर्म है। क्षात्र–धर्म के इसी व्यापकता के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र–धर्म ऐकान्तिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोक–रक्षा से है। 'कोई राजा होगा तो अपने घर का होगा' इससे बढ़कर झूठ बात शायद ही कोई मिले। झूठे खिताबों के द्वारा यह कभी सच नहीं की जा सकती। कर्म–सौन्दर्य की योजना छात्र–जीवन में जितने रूप में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ

रूप–माधुर्य, तेज के साथ कोमलता इत्यादि कर्म–सौन्दर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष–योग और कहाँ घट सकते हैं ?

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात को भूलकर जो उपदेश दिये जाया करते हैं वे पाखंड के अंतर्गत आते हैं। वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही 'लोक रक्षा' का मार्ग होगा – वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वांगपूर्ण लोक–धर्म का मार्ग होगा। क्षात्र–धर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार–युग उसे नहीं घटा सकता।

1.2.3 श्रद्धा भक्ति : कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण

कथ्य : 'श्रद्धा' निबन्ध

किसी मनुष्य–विशेष में जन–साधारण से विशिष्ट गुण तथा शक्ति को देखकर मन में उस व्यक्ति के प्रति जो विशेष भाव उत्पन्न होता है उसे श्रद्धा कहते हैं। उस व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करने में किसी प्रकार की विवशता नहीं होती। मनुष्य अनायास ही उसे स्वीकार कर आनन्द का अनुभव करता है। हमारी श्रद्धा का पात्र सज्जन, गुणवान्, वीर, दानी तथा विद्वान्, परोपकारी ही हो सकता है। श्रद्धालु श्रद्धेय की निन्दा या बुराई न सुन सकता है न सहन कर सकता है। इसलिए शुक्ल जी का कथन है, 'इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार का वांछित है। यही विश्व–कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।"

श्रद्धा और प्रेम में विशिष्ट अन्तर होता है श्रद्धा का क्षेत्र विस्तृत होता है तथा प्रेम का क्षेत्र सीमित होता है। शुक्ल जी के अनुसार "प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी

बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।" यही कारण है कि मनुष्य से प्रेम करने वाले दो एक ही मिलते हैं पर श्रद्धा रखने वालों की संख्या करोड़ों तक पहुँच जाती है। मनुष्य के सभी कार्यों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। इसलिए गुणवान् व्यक्ति अपने सुकर्मों द्वारा ही समाज के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है प्रेमी स्वप्नों के संसार में प्रिय के साथ विचरण कर सकता है परन्तु श्रद्धालु अपने श्रद्धेव पात्र के कार्यों का विवरण विस्तृत जगत् में आंकता है। इसी कारण शुक्ल जी ने लिखा है 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेम में दो पक्षों की ही प्रधानता रहती है (प्रिय और प्रेमी की)। पर श्रद्धालु, श्रद्धेय और मध्यस्थ तीन पक्ष अनिवार्यतः रहते हैं। बहुधा प्रेम का कारण अज्ञात होता है – पर श्रद्धा का कारण प्रत्यक्ष रूप में ज्ञात तथा निर्दिष्ट होता है।'

श्रद्धा में कर्म की प्रधानता होती है और प्रेम में व्यक्ति की प्रधानता होती है। अपने प्रियतम पर अपना अधिकार रखना चाहता है – पर श्रद्धा के प्रति कोई भी श्रद्धालु अपना अधिकार नहीं जमाना चाहता। इसलिए आचार्य शुक्ल श्रद्धा को एक सामाजिक भाव मानते हैं – पर प्रेम एक स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत भाव है। श्रद्धालु की सदैव यही कामना होती है कि उसके श्रद्धापात्र के श्रद्धालुओं की संख्या में और भी वृद्धि हो – परन्तु प्रेमी यह कभी भी नहीं चाहता है कि जिससे वह प्रेम करता है, विश्व के अन्य पुरुष भी उससे प्रेम करने लगे। कारण कि प्रेम एक संकुचित भाव है। श्रद्धालु अपने भाव में विश्व को भी सम्मिलित करने का प्रयत्न करता है – पर प्रेमी ऐसा कभी नहीं चाहता।

कृतज्ञता के भाव को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी का कथन है, "श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। ..... श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है, जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि रूप में प्रकट करते है।" समाज ने मनुष्य को सदाचार पर श्रद्धा तथा अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने का अधिकार सौंप रखा है। जो भाव व्यक्तिगत उपकार के प्रति उत्पन्न होता है, उसे कृतज्ञता तथा जो भाव सर्वसाधारण के उपकार के लिए होता है उसे श्रद्धा के अंतर्गत लिया जाता है। श्रद्धा में दूसरे महत्त्व को आवश्यक रूप से स्वीकार करना पड़ता है। स्वार्थियों और अभिमानियों के संकुचित विचारधारा होने के कारण उनमें श्रद्धा भाव नहीं समा सकता। उनके संकुचित हृदय में श्रद्धा ऐसे पवित्रभाव को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती।

शुक्ल जी ने श्रद्धा को तीन भागों में विभक्त किया है –

(1) प्रतिभा–सम्बन्धिनी,

(2) शील–सम्बन्धिनी,

(3) साधन–सम्पत्ति–सम्बन्धिनी,

प्रतिभा–सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में गुण–ग्राहकता और निपुणता का होना आवश्यक है। जब तक श्रद्धालु में निपुणता का गुण नहीं होगा, तब तक वह किसी गुण का सूक्ष्मता से निरीक्षण नहीं कर सकता। शील–सम्बन्धिनी श्रद्धा को शुक्ल जी प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य स्वीकार करते हैं। वस्तुतः शील धर्म का दूसरा नाम है। सदाचारी के प्रति श्रद्धा दिखाकर हम अपने सामाजिक धर्म के कर्त्तव्य का पालन करते हैं। धर्म ही मानव समाज का आधार–स्तम्भ है। इसी कारण शुक्ल जी श्रद्धा को धर्म का पहला सोपान स्वीकार करते हैं तथा धर्म को दूसरा। व्यक्ति किसी सदाचारी या आदर्शवान पुण्यात्मा में श्रद्धा रखकर ही कार्य में अग्रसर होता है। साधन–सम्पत्ति–सम्बन्धिनी श्रद्धा का अर्थ योग्यता से है। इस श्रद्धा का मनुष्य अनुपयोग भी कर सकता है, सदुपयोग भी और दुरुपयोग भी। इसी में अमुक व्यक्ति की योग्यता का पता चलता है। जैसे एक बलवान् व्यक्ति चाहे तो उसे बुरे कार्यों में लगाकर उसका दुरुपयोग भी कर सकता है। यही बात संगीत तथा साहित्य में लागू होती है। अभ्यास के बल पर एक संगीतज्ञ संगीत की आत्मा तथा साहित्याचार्य अलंकारों की मनमाना प्रयोग कर काव्य की आत्मा पर कुठाराघात करता है। इस प्रकार साधन– सम्पन्नता का सदुपयोग भी होता है तथा दुरुपयोग भी। श्रद्धा के इन तीनों रूपों में से जनसाधारण की दृष्टि सर्वप्रथम शील–सम्बन्धिनी श्रद्धा पर ही होनी चाहिए क्योंकि इसका संबंध प्राणीमात्र की सामान्य स्थिति रक्षा से होता है।

श्रद्धा से मनुष्य के कार्यों में सुगमता आ जाती है। इससे उनके मन में एक विश्वास जागृत हो जाता है और व्यक्ति अपने कार्य को बढ़ने के साहस का अनुभव करता है। कभी कभी पाखंडी लोगों की श्रद्धाप्राप्त करने के लिए कई प्रकार के स्वांग रचते हैं। ऐसे धूर्त लोगों से सचेष्ट रहना चाहिए।

श्रद्धालु श्रद्धेय में अपने अनुसार कोई परिवर्तन नहीं करना चाहता। वह किसी प्रकार के निजी लाभ की इच्छा श्रद्धेय से नहीं रखता। वह तो कर्म में ही अपना ध्यान लगाये रहता है। श्रद्धा एक ऐसा सत्कार्य अथवा सद्गुण है जिससे अन्य किसी प्रकार के सौदे की सम्भावना नहीं रहती। आजकल भीरुता और चापलूसी को भी श्रद्धा के नाम से चलाया जाता है पर श्रद्धा नहीं कही जा सकती क्योंकि श्रद्धा में याचना या चापलूसी का भाव लेशमात्र भी नहीं होता। श्रद्धा की अपेक्षा घृणा को प्रकट करने का अधिकार हमें उतना नहीं है। इसका कारण यह है कि हम यदि किसी में श्रद्धा नहीं रखते तो इससे समाज की विशेष हानि नहीं होती पर घृणा के प्रकट करने में समाज में असंतोष या दुःख व्याप्त हो सकता है।

श्रद्धा के विषय तीन हैं शील, प्रतिभा और साधन–सम्पन्नता। शुक्ल जी के अनुसार "शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रंजन और साधन–सम्पति से शील–साधन और प्रतिभा–विकास दोनो की सम्भावना है।" श्रद्धा और दया में पर्याप्त भेद होता है। जो दान पण्डितों, धार्मिकों और विद्वानों को दिया जाता है वह श्रद्धा–वश दिया जाता है और अन्धो, लूलों, लंगड़ों को दिया

गया दान दया के अन्तर्गत आता है। अतः शक्तिशाली या सदाचारी के प्रति हमारा श्रद्धा–भाव होता है। तथा निर्बल–असहाय के प्रति दया भाव।

'भक्ति'

श्रद्धा और प्रेम के मिश्र भाव को भक्ति कहते हैं। श्रद्धा पात्र में पूज्य–बुद्धि के साथ जब उसके प्रति मन में घनिष्ठता प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है तथा उसकी सत्ता से साक्षात्कार करना चाहते हैं तभी भक्ति का आविर्भाव होता है। भक्ति की दशा में हम अपने जीवन–क्रम का थोड़ा बहुत अंश श्रद्धेय के लिए अर्पित करने को तत्पर रहते हैं। इसके साथ ही श्रेद्धय के जीवन क्रम पर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में 'आत्म–निवेदन– कहते हैं।

श्रद्धा में हम अपने जीवन में उपार्जित किसी वस्तु को ही देने में स्मर्थ होते हैं – पर भक्ति में हम अपने जीवन तक को अर्पित कर देते हैं। श्रद्धा में श्रद्धालु श्रद्धेय के महत्त्व का कभी भी अधिकार नहीं हो सकता। पर भक्ति में वह भी महत्व की प्राप्ति कर सकता है। इतना ही नहीं अपितु दूसरे की भक्ति करके व्यक्ति तीसरे की भक्ति का अधिकारी बन जाता है। जैसे राम की भक्ति करके हनुमान अन्य भक्तों की भक्ति के अधिकारी बने। इस प्रकार भक्ति के महत्व को प्राप्त करने के लिए भक्त अपने जीवन तथा आचरण को पवित्र और स्वच्छ रखता है, जिससे समाज का कल्याण होता है।

भक्ति में ऐसे सान्निध्य की उपलब्धि होती है जिससे हमारे महत्त्व के अनुकूल गति का विस्तार होता है, तथा प्रतिकूल गति का संकोच। भक्ति में दैन्यभाव अनिवार्य से विद्यमान् रहता है, जिससे श्रद्धेय के महत्त्व तथा अपने लघुत्व को प्रदर्शित किया जाता है। भक्ति के आश्रय को प्राप्त करने की कठिन–से–कठिन काम सरल तथा सुगम प्रतीत होने लगते हैं। महत्त्व प्राप्ति का जो उच्च पथ दुष्कर तथा श्रम–साध्य प्रतीत होता है वही भक्ति–बल प्राप्त कर सरल तथा मनोहरी हो जाता है।

मनुष्य को जो सिद्धांत नीरस तथा व्यर्थ प्रतीत होते हैं, इन सिद्धांतों को बुद्धि तो स्वीकार करती है किंतु मन उनमें नहीं रमता। इसलिए सिद्धांतों के पचड़े में न पड़कर मनुष्य को कर्म–सौंदर्य में प्रवृत रहना चाहिए। सद्वृत्तियों के सामीप्य ही से जीवन उच्चता को प्राप्त करता है। इस सामीप्य से यह तात्पर्य नहीं, कि मनुष्य सदैव ही किसी के साथ उठता–बैठता रहे, अपितु, श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भी सामीप्य के ही अंतर्गत आते हैं।

इष्ट के साथ अनिष्ट का न होना सहज सम्भाव्य है। यदि दुःख न हो तो सुख का कोई मूल्य ही नहीं। इष्ट से हमें प्रवृत्ति का भाव प्राप्त होता है, तथा अनिष्ट से निवृत्ति का क्रम हमें ज्ञात होता है। रावण के विद्यमान होने से ही राम को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। यदि रावण न होता तो राम का इतना महत्व न होता। रावण के समूल नाश के लिए राम का तत्पर होना लोक–रक्षा के लिए परमावश्यक है।

स्वानुभूति के द्वारा मनुष्य परमानुभूति की धारण कर सकता है। मनुष्य ईश्वर में अपने ही कर्मों और मनोभावों की पूर्णता को देख अपने से श्रेष्ठ मानता है। इसी में आनंद की प्राप्ति करता है तथा उसका धर्म मार्ग जगमगाने लगता है।

श्रद्धा तथा प्रेम के संयोग से मानव मन में भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। अतः भक्ति का स्थान हृदय है, मस्तिष्क नहीं । हमारे यहाँ श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चना, वन्दना, हास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि नवधा भक्ति का विधान किया गया। हम यह पहले बता चुके हैं, कि श्रद्धा में श्रद्धेय से याचना नहीं की जाती, परन्तु भक्त सदैव ईश्वर की कृपा की चाहना करता है।

हिन्दू–धर्म में लोक कल्याण के उपदेशकों को महत्व नहीं दिया जाता। वह तो कर्मक्षेत्र में घुसकर अन्याय तथा अत्याचार के नाश करने वालों का महत्व स्वीकार करता है। क्षात्र–धर्म जनता के सम्पूर्ण जीवन का स्पर्श करने में समर्थ है। उसकी इस व्यापकता के कारण उसके संबंध लोक–रक्षा से रहता है। राम–कृष्ण हमारे आराध्य इसलिए हैं, क्योंकि वे क्षात्र–धर्म के प्रतीक हैं। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार "संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती, वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक–रक्षा का मार्ग होगा। वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा।" भक्ति का मार्ग ही ऐसा मार्ग है जिसमें जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य समाहित है। क्षात्र धर्म ही एक ऐसा धर्म है। जिसमें कर्म–सौंदर्य झलकता रहता है। कर्म–सौंदर्य ही सर्वसाधारण के समीप रहता है। कर्म–सौंदर्य के कारण ही हमारे समाज ने राम और लक्ष्मण को इतना महत्व दिया है। कारण कि वे पूर्ण रूप से क्षत्रिय हैं। उनके चरित्रों में समन्वय के सुन्दर दर्शन होते हैं। जहाँ वे बलवान् हैं वहाँ क्षमावान् भी हैं, जहाँ वह वैभवशाली है उन जैसा विनयी भी कोई दिखाई नहीं देता, और जहाँ वे तेजस्वी हैं वहाँ कोमलता भी कूट–कूट कर उनमें भरी है। इसलिए समस्त संसार क्षात्र–धर्म पालन की आवश्यकता को अनुभव करता रहेगा।

शिल्प

शुक्ल जी द्वारा रचित इस निबन्ध 'श्रद्धा–भक्ति' में गद्य की व्यास और समास दोनों ही शैलियों का प्रयोग हुआ है। इनके कुछ उदाहरण अग्रलिखित हैं –

1. समास शैली

इस शैली में 'गागर में सागर भरने' अर्थात् विस्तृत विचार को संक्षिप्त और किसी मनुष्य में जन साधारण में विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।

2. व्यास शैली

इस शैली में समास–शैली के ठीक विपरीत संक्षेपीकरण की अपेक्षा विस्तारीकरण की प्रवृत्ति हुआ करती है। इससे शब्दों, वाक्यांशों आदि की पुनरावृत्तियाँ भी हो जाती हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "कभी–कभी केवल एक साथ रहते–रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें, उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी, प्रिय के सम्पूर्ण जीवन–क्रम के सतत साक्षात्कार का

अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, खाना, पीना सब कछ देखना चाहता है।"

3. धाराप्रवाह शैली

पूर्वोक्त उदाहरण में ही गद्य की धारा प्रवाहमयी शैली मिलती है। इस शैली का कवित्वपूर्ण निदर्शन प्रस्तुत है। – जिस समय दूर–दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटामुकुटधारी विजयी राम–लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से बिंधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं, उस समय वे धर्म के सौन्दर्य पर लुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं।

इसे गद्य–काव्य का सटीक दृष्टान्त कह दिया जाए, तो भी असमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

4. भाषा

शुक्ल जी की गद्य–भाषा में मुख्यतः संस्कृत तत्सम शब्दावली गुम्फित मिलती है। हां, गौणतः तद्भव, अंग्रेज़ी, अरबी–फारसी–उर्दू आदि शब्दों की भी छटा छिटकती रहती है।

संस्कृत तत्सम शब्द – मनुष्य, जनसाधारण, विशेष, गुण विकास, सम्बन्ध, आनन्द, पद्धति, स्थायी, हृदय, पूज्य, बुद्धि, सहृद्, इत्यादि हज़ारों, शब्द इस निबंध में भरे पड़े हैं।

तद्भव शब्द– बार (सं. वार), आँख (सं. अक्षि), सब (सं. सर्व), बात (सं. वार्त्ता), भद्दी (सं. भद्दी भाषाविज्ञान के अनुसार यह अर्थापकर्ष का उदाहरण है)।

देशज शब्द – गिचपिच, पटरी,

फ़ारसी शब्द – कारीगर (विशेषण पुलिंग शब्द)

कटाक्ष और व्यंग्य

शुक्ल जी के इन निबंध में कटाक्ष व्यंग्यपूर्ण वचन भी भाषा को धारदार बनाते हैं – यथा (1) 'ऐसे झूठे श्रद्धावानों से घिरकर झूठे श्रद्धा–पात्र सच्चे श्रद्धा–पात्र को क्यों न मात करें, जबकि आजकल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं ? (2) 'हमीं–हम– वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्ही तुम' की क्या बात है ? यह पंक्ति इस उर्दू शेयर की प्ररेणाभूमि भी रेखांकित कर सकती है –

चमन में इख़्तिलाफे रंगों–बू से बात बनती है,

हमी हम हैं, तो क्या हम हैं, तुम्ही तुम हो तो क्या तुम हो।

समग्रतः इस निबन्ध की भाषा सुनियोजित और सुगठित है। यत्रतत्र मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी भाषा–शैली को परिष्कृत तथा प्रभावशाली बनाता चलता है। वास्तव में अनेक स्थलों पर इस निबन्ध का गद्य मानव–मनोविज्ञान

की गहरी पैठ कराते हुए एक विशेष बौद्धिक अभिजात्य और रसास्वाद से भी ओतप्रोत हो उठता है।

1.2.4 प्रमुख प्रसंगों की व्याख्या

1. "किसी मनुष्य में.....का संचार है।"

प्रसंग — यह गद्यांश हिन्दी की लब्ध प्रतिष्ठ निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध–संग्रह 'चिन्तामणि' भाग प्रथम के निबन्ध 'श्रद्धा–भक्ति' से उद्धृत किया गया है।

व्याख्या — जब हम किसी व्यक्ति में ऐसे विशिष्ट गुण या शैली पाते हैं, जो साधारणतः सामान्य में नहीं पाये जाते तो इस विशिष्ट गुण या शक्ति को देखकर हमारे मन में एक ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है जो स्थायी रहता है, अर्थात् जब–जब हम उस गुण या शक्ति को देखते हैं, तब–तब हमें वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है। आनन्द की इसी भावना को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा में हम अपने श्रद्धेय के महत्त्व को तो स्वीकार करते ही हैं, साथ ही उसके प्रति हमारे हृदय में पूज्य भाव का भी संचार होने लगता है। अर्थात् श्रद्धेय हम से श्रेष्ठ होने के साथ साथ हमारा पूज्य भी बन जाता है।

2. "कर्त्ता से बढ़कर.....शक्ति केन्द्र हो जाता है।"

व्याख्या — किसी भी कर्म का सबसे बड़ा स्मारक उस कर्म का करने वाला, अर्थात् कर्त्ता ही होता है जब हक किसी की प्रशंसा हैं तो तुरन्त हमारा ध्यान उसके कर्त्ता पर पहुँच जाता है। कर्म को कर्त्ता से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जब हम स्वयं उसी कार्य को करने का प्रयत्न करते हैं तो मार्ग दर्शन के लिए हमारी दृष्टि तुरन्त उसके कर्त्ता की ओर उठती है जो हमारा आदर्श होता है। उन कर्मों द्वारा ही समाज में उनके कर्त्ता की स्थिति सुन्दर और आकर्षक स्थान प्राप्त कर लेती है और बहुत से व्यक्ति उस कर्त्ता पर मुग्ध होकर वैसे ही कर्म करने का प्रयत्न करने लगते हैं। कर्त्ता अपने शुभ कर्मों द्वारा अगणित व्यक्तियों का श्रेद्धय बन जाता है और श्रद्धालु व्यक्ति वैसे ही कर्मों को करने की प्रेरणा एवं शक्ति उसी कर्त्ता द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। जब किसी समाज में किसी सत्कर्म करने वाले कर्त्ता का जन्म होता है तो अनेक व्यक्ति उससे प्रेरणा प्राप्त कर वैसे ही सत्कर्म करने लगते हैं जिनके द्वारा समाज का कल्याण होता है और सारे दुःख और क्लेश नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों की शक्ति द्वारा मेघ–खण्डों को उत्पन्न एवं एकत्र कर घनघोर वर्षा द्वारा संसार के ताप का हरण कर लेता है, वैसी ही स्थिति उस कर्त्ता की भी होती है। यहाँ कर्त्ता सूर्य के समान और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उसी के अनुकरण पर किए जाने वाले सत्कर्म मेघखण्डों के समान है तथा उन सत्कर्मों के शुभ फल वर्षा के समान जन–कल्याण करने वाले हैं।

3. "हमारे अन्तः करण में.....श्रद्धा जागरण है।"

व्याख्या — हम अपने हृदय में अपने प्रिय आदर्श मूर्ति की कल्पना उसके

शरीरिक सौन्दर्य या उसके व्यक्तित्व में निहित किसी अन्य विशेषता के आधार पर कर सकते हैं। परन्तु जिसके प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा होती है उसके आदर्श स्वरूप का संगठन हम उसके द्वारा किए गए कर्मों के आधार पर ही करते हैं, अर्थात् प्रेम में व्यक्ति प्रधान होता है और श्रद्धा में श्रद्धेय के कर्म। अपने प्रिय का स्मरण करते समय हम संसार को भुलाकर केवल उसी में सीमित हो जाते हैं, परन्तु अपने श्रद्धेय का स्मरण करते समय हम संसार के उस अंश को सामने रखते हैं जिसमें श्रद्धेय के कर्मों द्वारा कल्याण का प्रसार हुआ है। प्रेम में स्वप्न की–सी स्थिति होती है जहाँ हम सोते हुए की–सी स्थिति में अपने प्रिय के ही सपने देखा करते हैं परन्तु श्रद्धा में हम जागृत अवस्था के समान उसके कर्मों का विस्तार देखते हैं।

4. "श्रद्धा स्वयं ऐसे.....प्रकट करते हैं।"

व्याख्या – श्रद्धा व्यक्तिगत स्वार्थ–भावना न होकर सामाजिक भाव है। इसके विपरीत प्रेम–पूर्ण रुपेण स्वार्थमयी व्यक्तिगत भावना पर आधारित रहता है। हर किसी की ऐसे कर्मों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिनका शुभ प्रभाव अकेले हमारे लिए ही लाभप्रद या कल्याणकारी न होकर सारे मानव–समाज के लिए शुभ तथा कल्याणकारी होता है। जब कोई व्यक्ति हमारा उपकार करता है तो उसके प्रति हमारे मन में कृतज्ञता की भावना में संकोच न होकर आनन्द की भावना सर्वोपरि रहती है और हम समाज का अंग बनकर उसके प्रतिनिधि रूप में जब किसी के सत्कर्मों के प्रति, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से न होकर सारे समाज से रहता है – आनन्द से भर कर कृतज्ञता प्रकट करते हैं, तब उस कृतज्ञता की भावना को 'श्रद्धा' कहा जाता है।

5. "कोरे विद्वानों के.....प्रकार करे।"

व्याख्या – श्रद्धा उन विद्वानों के प्रति भी होती है जो विद्वान् तो होते हैं परन्तु अपने ज्ञान का फल दूसरों को नहीं प्राप्त करने देते। उनके प्रति श्रद्धा केवल इस कारण होती है कि वे बहुत बड़े विद्वान् हैं और विद्वता का अर्जन श्रेष्ठ गुण माना जाता है – और श्रेष्ठ गुण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह साधन–सम्पन्नता–सम्बन्धिनी श्रद्धा होती है। इस श्रद्धा की भावना में यह बात नहीं देखी जाती कि विद्वान् ने अपनी विद्वता का उपयोग या प्रतिभा का प्रकाशन किसी जन–कल्याणकारी कार्य के लिए किया है अथवा नहीं। विद्वता उसे कहते हैं – जब कोई व्यक्ति अत्यन्त कष्ट, परिश्रम और चिन्तन द्वारा किसी विषय का बहुत–सा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह ज्ञान का संचय कर्ता अर्थात् भंडारी तो बन जाता है परन्तु साथ ही यह भी देखना होता है कि वह उस ज्ञान का उपयोग किस प्रकार करता है और ज्ञान का उपयोग करना प्रतिभा द्वारा सम्भव होता है। ऐसा विद्वान् समाज के लिए तभी उपयोगी बन सकता है। जब वह उत्तम विचारक, व्याख्याता, लेखक, अन्वेषक या कवि के रूप में अपने उस संचित ज्ञान का और उससे सम्बन्धित अपने विचारों का प्रभावशाली ढंग से प्रकाशन करे। तभी वह समाज की सच्ची श्रद्धा का भाजन

बन सकेगा।

6. "श्रद्धा और प्रेम के योग.....समझना चाहिए।"

व्याख्या — जब किसी के प्रति श्रद्धा के साथ–साथ प्रेम की भी भावना उत्पन्न होती है तब उसे भक्ति कहा जाता है। श्रद्धेय के प्रति पूज्य भाव की निरन्तर वृद्धि होती रहे और आगे चलकर यह भावना उत्पन्न होने लगे कि हम अपने श्रद्धेय के सदैव समीप रहें, उसके विभिन्न कार्यों और रूपों को उसके पास रहकर देखें तो इस भावना को भक्ति कहा जायेगा। हम जिसके प्रति श्रद्धालु होते हैं उसे प्राप्त करने या उसके समीप रहने के लिए व्यग्र नहीं होते। परन्तु जब हम किसी से प्रेम करते हैं तो उसका सामीप्य–लाभ चाहते हैं और साथ ही उसके प्रति एकाधिकार की भावना भी रहती है। भक्ति में, क्योंकि श्रद्धा और प्रेम का योग रहता है इसलिए उसमें श्रद्धा के गुण पूज्य बुद्धि की भावना के साथ प्रेम का एकाधिकार की भावना नहीं हो पाती। प्रेमी अपने प्रिय पर एकाधिकार चाहता है। भक्त श्रद्धा के योग एवं प्रधानता के कारण अपने उपास्य पर एकाधिकार न चाह कर उस पर समाज का समान अधिकार मानता है। इसी कारण किसी के भक्त अनेक होते हैं और प्रेमी एकाध ही। प्रेमी व्याष्टिवादी होता है और भक्त समाष्टिवादी।

7. "इससे भक्ति के.....नहीं हो सकती।"

व्याख्या — श्रद्धालु व्यक्ति अपने श्रद्धेय के महत्व को स्वीकार करता है। परन्तु भक्त अपने उपास्य के महत्व को स्वीकार कर दूसरों की दृष्टि में स्वयं भी महत्वशाली बन जाता है। उपास्य अपने भक्तों की सहायता से बड़े–बड़े जन–कल्याणकारी कार्य करने में समर्थ हो सके थे। इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति का सामाजिक महत्व श्रद्धा से अधिक है। उसकी, लोक का कल्याण करने वाली शक्ति भी निर्विवाद रूप से अधिक है। समाज में महत्ता प्राप्त करने के लिए यह अवश्यक है कि या तो अपने सद्‌गुणों द्वारा दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करो या दूसरे के सद्‌गुणों को देखकर इनके प्रति आकर्षित हो। इस प्रकार सद्‌गुणों का यह संगठन मिलकर एक अत्यन्त प्रबल कल्याणकारी शक्ति का रूप धारण कर लेता है। पिण्डों का निर्माण तभी होता है जब बिखरे हुए अणु आकर्षण द्वारा परस्पर संगठित होकर एक ही स्थान पर एकत्र हो जाते हैं। यदि यह आकर्षण न हो तो इनका संगठित होना असम्भव है। उसी प्रकार जब तक सद्‌गुणों का आकर्षण योग्य व्यक्तियों को परस्पर आकर्षित कर संगठित नहीं कर लेगा, तब तक मानव–जीवन की श्रेष्ठता का स्वरूप सामने नहीं आ पायेगा। भक्त में सद्‌गुणों का समन्वय होता है। वे इन्हीं सद्‌गुणों के कारण परस्पर एक–दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। इस प्रकार उनका एक विशाल समाज बन बन जाता है और उस समाज के रूप में ही मानवता का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। इसलिए भक्ति का सामाजिक महत्त्व है।

8. "व्यक्ति सम्बन्धहीन ..... रूप में देखे जाते हैं।"

व्याख्या — जिन सिद्धान्तों का व्यक्ति से क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् जिन सिद्धान्तों का निर्माण मनुष्य के क्रियात्मक जीवन के आधार पर नहीं किया जाता, वे विवेक द्वारा तो सहज ग्राह्य बन जाते हैं परन्तु मानव के कार्यों की संचालिका शक्ति—मन उनके उस स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। यही कारण है कि कोरे और रुखे सिद्धान्त विवेक की दृष्टि से देखने पर सुन्दर प्रतीत होते हैं। परन्तु जब हम अपने क्रियात्मक जीवन में उनका प्रयोग करना चाहते हैं तो वे अव्यावहारिक होने के कारण हमारे उपयोग के योग्य नहीं प्रतीत होते। सिद्धान्त—वाक्य मनोरंजनकारी तभी लगते हैं जब हम किसी व्यक्ति के जीवन में उनका क्रियात्मक स्वरूप देखते हैं। जैसे — 'सदा सत्य बोलो', सिद्धान्त—वाक्य सुनने में भले ही अच्छा लगे परन्तु जब हम सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा में उसका सफल व्यावहारिक रूप देखते हैं, तभी उससे प्रभावित होते हैं और तभी उसका वास्तविक महत्त्व हमारी समझ में आता है। हमारे श्रेष्ठ पुरुष एवं महात्मागण कोरे और रूखे सिद्धान्त—वाक्यों को अपने जीवन द्वारा क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत करने के कारण ही हमारे पूज्य बन सके हैं। अतः सिद्धान्त—वाक्यों का महत्त्व तभी है जब हम उन्हें किसी व्यक्ति के जीवन द्वारा अभिव्यक्त हुआ देखते हैं।

9. "संसार से तटस्थ ..... अवतार कहे गए हैं।"

व्याख्या — लोक—व्यवहार—सम्बन्धी उपदेशों के दो रूप होते हैं — (1) कोरे उपदेश का रूप, तथा (2) उनका क्रियात्मक रूप। इनकी व्याख्या करने वाले व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं — (1) वे जो संसार के व्यवहारों से तटस्थ रहकर सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करते हुए गद्दी पर बैठकर उपदेश देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को उपदेशक कहा जाता है और इनकी संख्या भी कम नहीं होती क्योंकि दूसरों को उपदेश देना संसार का सबसे सरल कार्य है। (2) इन उपदेशों की व्याख्या करने वाले दूसरे व्यक्ति वे होते हैं जो अपने कर्मो द्वारा इन उपदेशों का व्यवहारिक रूप संसार के सम्मुख उपस्थित करते हैं और ऐसे व्यक्तियों के इन कर्मों को देखकर समाज में सात्त्विक भावनाओं का प्रसार होता है। इसी कारण हिन्दू धर्म में उपदेशकों और उनके उपदेशों को अधिक महत्त्व न देकर उन उपदेशों को क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत करने वालों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है और उन्हें अवतार माना गया है। जो अपने जीवन के विभिन्न कार्यकलापों द्वारा कर्म—सौन्दर्य का महत्त्व स्थापित करते हैं वे ही अवतार कहे जाते हैं। राम और कृष्ण को इसी कारण अवतार माना गया है।

10. "श्रद्धा का व्यापार ..... श्रद्धा में विस्तार।"

व्याख्या — किसी के प्रति श्रद्धा रखने वाले अगणित संख्या में मिल जाते हैं, अतः श्रद्धा कुछ व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं रहती। इसके विपरीत, प्रेम का क्षेत्र दो—एक व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है अर्थात् किसी को प्रेम करने वाले दो—एक ही होते हैं। इसलिए प्रेम का क्षेत्र एकांत अर्थात् संकुचित माना गया है।

साहित्य की प्रेम–भावना में गहराई अधिक होती है, अर्थात् हम अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों के साथ किसी से प्रेम करते हैं, इसके विपरीत श्रद्धा में गहराई न होकर विस्तार होता है। हम किसी को देखकर जब श्रद्धा से भर उठते हैं तो हमारा श्रद्धेय ही हमारे जीवन का नियामक नहीं बन जाता। उससे भिन्न भी हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। परन्तु प्रेम में स्थिति इसके ठीक विपरीत होती है। वहाँ हमारे प्रेमास्पद तक ही हमारा सम्पूर्ण जीवन सीमित होकर रह जाता है। वही हमारे जीवन का नियामक बन जाता है।

11. "प्रेम का कारण ..... ज्ञात होता है।"

व्याख्या – जब हम किसी से प्रेम करते हैं तो हमें यह ज्ञात नहीं होता कि हम उससे क्यों प्रेम करते हैं और न हम किसी का निर्देश पाकर ही अपने प्रिय से प्रेम करते हैं। परन्तु जब हमारे मन में किसी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तो इस श्रद्धा का कारण उसके सत्कर्म होते हैं, अर्थात् हम किसी के कर्मों को जानकर ही उसके प्रति श्रद्धालु हो उठते हैं। यहाँ हमारी श्रद्धा का कारण स्पष्ट होता हैं।

12. "जब तक समष्टि का रूप ..... अनुभव नहीं होता।"

व्याख्या – जब तक हम स्वयं को समाज का अंग समझ कर संसार के लक्ष्य अर्थात् आनन्द–प्राप्ति का ज्ञान नहीं प्राप्त करते तब तक हमारे हृदय में ऐसे सामान्य आदर्शों के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता, जिनसे संसार का कल्याण होता है और इसलिए उस समय तक हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। कृतज्ञता की भावना जब 'स्व' से बढ़कर 'समष्टि' तक फैल जाती है तभी श्रद्धा का उदय होता है।

13. "दूसरों की श्रद्धा ..... कम होती है।"

व्याख्या – दूसरों की श्रद्धा प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, क्योंकि वह सदैव उनके लिए कल्याणकारी कार्य करता रहेगा। अपने श्रद्धालुओं का यह निश्चय एवं विश्वास प्राप्त कर लेने के कारण श्रद्धेय को आत्मिक बल मिलता है और उसे अपने जन–कल्याणकारी कार्य करने में अधिक बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता, क्योंकि उसके उन कर्मों के पीछे जनता के एक बहुत बड़े अंश की प्रसन्न स्वीकृति रहती है और ऐसा हो जाने पर उसके मार्ग में आने वाले संघर्षों की उग्रता कम हो जाती है।

14. "श्रद्धा न्याय–बुद्धि ..... हिसाब से होती है।"

व्याख्या – श्रद्धा अन्धी नहीं होती। श्रद्धालु अपनी न्याय–बुद्धि का प्रयोग करके ही किसी के प्रति श्रद्धा से भर उठता है और उसकी श्रद्धा उसी अनुपात में सदैव घटती–बढ़ती रहती है जिस अनुपात में श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि घटते बढ़ते हैं। यदि श्रद्धेय अपने किसी दुष्कर्म द्वारा जनता में अप्रिय हो जाता है तो उसके प्रति जनता की श्रद्धा भी समाप्त हो जाती है।

15. "श्रद्धा प्रेम स्वप्न है ..... जागरण है।"

व्याख्या – प्रेम का आधार कल्पना होने के कारण यह स्वप्न है। यह अनुमान या काल्पनिक सौन्दर्य से उत्पन्न होता है पर श्रद्धा का आधार प्रत्यक्ष गुण, प्रयत्न या कर्म होता है। इसी कारण श्रद्धा को जागरण कहा गया है।

16. "श्रद्धा में दृष्टि ..... कर्मों आदि पर जाती है।"

व्याख्या – श्रद्धा में व्यक्ति पहले किसी मनुष्य के विशेष कर्म या गुणों को देखता है। पुनः उसमें श्रद्धा रखने लगता है। पर प्रेम में व्यक्ति गुण या कर्मों पर पहले दृष्टि नहीं डालता अपितु उसके आकर्षण का कारण सुन्दर रूप हो सकता है। पर अन्त में प्रीति में भी दृष्टि कर्मों पर ही जाती है। अन्तर यह है कि श्रद्धा श्रद्धेय के लोक–कल्याण के कर्मों में रूचि को देखकर ही उत्पन्न हो जाती है। इसमें कर्म को महत्त्व दिया जाता है, रूप को नहीं। पर प्रेम में कर्म गौण हो जाता है, और रूप को प्रधानता दी जाती है।

17. "श्रद्धा का मूल ..... महत्त्व स्वीकार।"

व्याख्या – श्रद्धा में श्रद्धा का भाव तभी उत्पन्न होता है जब वह किसी मनुष्य में विशेष गुणों के कारण उसके महत्त्व को स्वीकार करता है। श्रद्धेय के महत्त्व को स्वीकार करना श्रद्धा का मूल तत्त्व है।

18. "श्रद्धा सामर्थ्य ..... दया असामथर्य के प्रति।"

व्याख्या – हमारी श्रद्धा का पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो कि गुणवान् हो, बलवान् हो। इन्हीं गुणों को देखकर व्यक्ति उसमें श्रद्धा करने लगता है। पर दया का पात्र वह होता है जो निर्बल हो, जो अपने जीवन का निर्वाह भी पूर्ण रूप से नहीं कर सकता। उसकी इसी दुःख पूर्ण दशा को देखकर हम दया का भाव प्रकट करते हैं।

19. "भक्ति के लिये ..... पहली बात है।"

व्याख्या – श्रद्धा में श्रद्धेय के महत्त्व को स्वीकार करना होता है, पर भक्ति में पूज्य देव के महत्त्व को स्वीकार करने के साथ–साथ अपने को सदैव तुच्छ समझना भी अनिवार्य है। भक्त को सदैव यही चाहिये कि वह अपने को क्षुद्र स्वीकार करते हुए भगवान् का गुणगान् करता जाये।

1.2.4.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. 'श्रद्धा भक्ति' में अंतर बताते हुए इसके महत्व पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

1.2.5 सारांश :

श्रद्धा व्यक्तिगत स्वाथा भावना न होकर सामाजिक भाव है। श्रद्धा और प्रेम के संयोग से मानव मन में भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। श्रद्धा में श्रद्धेय के महत्व को स्वीकार करना होता है।

1.2.6 प्रश्नावली :

1. शुक्ल द्वारा रचित 'श्रद्धा भक्ति' निबन्ध का सार प्रस्तुत करें।
2. कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से श्रद्धाभक्ति निबन्ध का विश्लेषण करें।
3. श्रद्धा और भक्ति में क्या अंतर हैं? स्पष्ट करें।

1.2.7 सहायक पुस्तकें :

1. चिन्तामणि : रामचन्द्र शुक्ल

पाठ संख्या : 1.3

'करुणा' निबन्ध : कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण, प्रमुख स्थलों की व्याख्या

'करुणा' निबन्ध का सार

इकाई की रूपरेखा :

1.3.0 उद्देश्य

1.3.1 प्रस्तावना

1.3.2 'करूणा' निबन्ध का सार

1.3.3 'करूणा' निबन्ध का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण

1.3.4 सप्रसंग व्याख्याएँ

1.3.4.1 स्वयं जांच अभ्यास

1.3.5 सारांश

1.3.6 प्रश्नावली

1.3.7 सहायक पुस्तकें

1.3.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय में निम्नलिखित दृष्टि बिन्दुओं पर विचार किया गया हैं जिन्हें पढ़कर विद्यार्थियों को इन शीर्षकों के बारे में विस्तृत जानकारी मिल पाएगी।

1.3.1 प्रस्तावना :

रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध लेखन की सफलता को लेखक की कसौटी कहा। उन्होंने कवियों को सलाह दी कि वे गद्य लिखकर विशेषकर निबन्ध यह सिद्ध करें कि वे श्रेष्ठ रचनाकार हैं। उन्होंने बुद्धि शिथिल, विचारहीन, आलसी कवियों पर तीखे प्रहार किए हैं। शुक्ल जी चिन्तनशील लेखक हैं, उन्होंने अपने चिन्तन की परीक्षा लोक व्यवहार के बीच की है। इसीलिए वे सामाजिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। इनके निबन्धों में इनका निजी व्यक्तित्व अपनी पूर्णता से व्यक्त हुआ है।

1.3.2 'करुणा' निबन्ध का सार :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'करुणा' निबन्ध का सार–संक्षेप आगे प्रस्तुत है –

1. बच्चों द्वारा करुणा का अनुभव

जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ–कुछ होने लगता है, तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले परखता है कि जैसे हम हैं, वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना–क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ–मूठ 'ऊँ'–ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई–कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उनके किसी भी भाई या बहिन को कोई मारने उठता है, तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।

2. करुणा, क्रोध और लोभ

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिस के प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनन्द की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी–कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं को हानि पहुँच जाए पर जिसे जिस व्यक्ति या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी न करेगा।

3. सुख से अधिक व्यापक दुःख का क्षेत्र

दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम जितना अधिक व्यापक है क्या उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात–कुल– शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुःखी होते हैं। किसी दुःखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुःखी होना तब तक के लिये बन्द नहीं रखते, जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है और यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है। हमारी दया दूर या कम हो जाय।

करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सहृदय या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान् या चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति के लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है।

4. करुणा की न्यूनाधिक मात्रा

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है, तो जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह

परिचित रहते हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली–भोली सुन्दरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई–बन्धु को दुःख में देख, हमें अधिक व्याकुलता होगी।

5. सुख–प्राप्ति और दुःख निवृत्ति द्वारा सज्जनता का निर्धारण

मनुष्य की प्रकृत में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही करुणा नामक मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध या संपर्क द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मुनष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आयेगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हों वे उत्तम हैं। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो, वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अन्तः करण वृत्ति से इन कर्मों से प्रवृत्ति हो, वह सात्त्विक है।

6. सुशीलता की प्रवृत्ति

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के सम्भाव्य दुःख का ध्यान या अनुमन, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं, जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहँचे शील या साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौबत ही का भाव समझा जाता है, जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं', ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे।

7. झूठ शील की कसौटी नहीं

मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' ये नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े–बड़े अनर्थ हो जाते हैं, इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है, जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी–किसी अवस्था में तो धर्मग्रन्थों में झूठ बोलने की इज़ाज़त तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियम–भंग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होती हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाए तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है, क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है।

8. सात्त्विक से करुणा और श्रद्धा का सम्बन्ध

मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली ही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है –

पर उपकार सरिस न भलाई।
पर–पीड़ा सम नहिं अधमाई

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी–न–किसी रूप में सात्त्विक शील ही होता है। अतः करुणा और सात्त्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी मनुष्य को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते।

9. वियोग में प्रिय के सुख की अनिश्चितता

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है उसमें कभी–कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अतः प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का निश्चय है। जो करुणा हमें साधारणजनों के वास्तिवक दुःख के परिज्ञान से होती है, वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारण जनों का तो हमें दुःख असह्य होता है, पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चय ही।

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी–कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है, जैसे एक पति–वियोगिनी सन्देह करती है कि –

नदी किनारे धुआँ उठता है, मैं जानूं कुछ होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय।।

10. प्रिय के मरणोपरान्त पश्चात्ताप

संसार तो कहने–सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं, जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके संसार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के एक अंग का खंडित हो जाना है। किसी प्रिय या सहृदय के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के

मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छा–पूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

11. दूसरों की सच्ची सहायता में निःस्वार्थता

समाजशास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करते हैं कि समाज में एक–दूसरे की सहायता अपनी–अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी–न–किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी सम्भावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता।

12. सहानुभूति में कृत्रिमता की वृद्धि

दूसरों, के विशेषतया अपने परिचितों के, थोड़े कलेश या शोक पर जो वेगरहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा–सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठीयाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म–शिष्टता मनुष्य के व्यवहार–क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चीरती जा रही है।

13. करुणा के प्रतिकार में प्रेम और श्रद्धा

करुणा अपना बीच अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है, वह बदले में करुणा नहीं करता, जैसे कि क्रोध और प्रेम में होता है, बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। कोमल भावों की योजना में दक्ष बंगला के उपन्यास–लेखक और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

14. भावों–मनोवेगों का महत्व और वर्तमान सभ्यता

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न सच्चा है। जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते, बल्कि परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर ज़ोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों के मारने और आशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और

सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनन्दित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होता है, पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन–निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं।

क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है। उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखण्डी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर कहने लगे हैं –

"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आन्नद छोड़ो। बस हाथ–पैर हिलाओ, काम करो।"

15. करुणा के बाधक तीन कारण

बहुत–से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता। जीवन में मनोवेगों के अनुसार परिणामों का विरोध ा प्रायः तीन वस्तुओं से होता है। – (1) आवश्यकता (2) नियम और (3) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड़ढ़ा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज़ होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफ्सर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्नन तक नहीं प्रकट नहीं देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पायें, तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा, वह किसी ऐसे दीन अकिंचन को देख जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा, पर नियम के वशीभूत हो, उसे वह उस कार्य के करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्‌भूत पालन किया था।

1.3.3 'करुणा' निबन्धा का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण

कथ्य

व्यक्ति जब दूसरे के दुःख का ज्ञान होने से स्वयं दुःख का अनुभव करने लगता है उसी को करुणा या दया कहते हैं। करुणा दुःख के भेदों में से एक है। इसका आरम्भ बाल्यावस्था से ही हो जाता है। स्वभावतः बच्चे अपने अनुभवों को दूसरों पर आरोपित करते हैं। पुनः कार्य–कारण के संबंध का अभ्यास हो जाने से दूसरों (पर) के दुःख के कारण को देखकर स्वयं दुःखी होने लगते हैं। इसी का नाम करुणा है।

मानव प्रवृत्ति के अनुसार करुणा का विपरीत भाव क्रोध है। साधारणतः जिसके प्रति क्रोध होता है हम उसको हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं – पर जिसके प्रति करुणा होती है, उसकी भलाई के लिये हम प्रयत्नशील रहते हैं तथा दुःखी होकर भी। आनन्द की श्रेणी में कोई भी शुद्ध मनोविकार ऐसा नहीं जो हानि के लिए उत्तेजित करे – वरन् करुणा दुःख की श्रेणी का ऐसा शुद्ध मनोविकार है जो भलाई के लिए उत्तेजित करता है। इसी कारण शुक्ल जी ने लोभ को आनन्द की श्रेणी में रखा है – क्योंकि जिस वस्तु के प्रति लोभ होता है मनुष्य कभी भी उसको हानि पहुँचाने का प्रयास नहीं करता। वह उसकी रक्षा करता है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य दूसरों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है। परन्तु बहुधा यह देखा जाता है कि मनुष्य दूसरों के दुःख से जितना दुःखी होता है उतना दूसरों के सुख से सुखी नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि करुणा–प्राप्ति के लिए दुःख के अतिरिक्त किसी अन्य विशेषता की आवश्यकता नहीं होती परन्तु आनन्द या सुख के लिए पात्र का संबंधी या सहृदय होना आवश्यक है – करुणा में दुःख के कारण का निवारण करने की उत्तेजना होती है। स्वभावतः मनुष्य अपरिचितों की अपेक्षा संबंधियों के दुःख से अधिक दुःखी होता है।

करुणा के द्वारा मनुष्य के जीवन में शील आदि उच्च भाव की स्थापना होती है। करुणा के द्वारा उन कार्यों का विधान होता है जिससे दूसरे के दुःख का निवारण हो । दूसरों के दुःख से दुःखी होना तथा उस दुःख की निवृति के लिए प्रयास करने के कारण एक सात्त्विक तथा शुभ भाव है। करुणा की भाँति कृपा भी दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करती है। पर कृपा में आत्मभाव छिपा रहा है। कृपा द्वारा पहुँचाया गया सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। करुणा से प्राप्त सुख से दुःख का निराकरण होता है जोकि जीवन के लिए अतिव आवश्यक है। इसलिए करुणा की जीवन में बहुत आवश्यकता है। जिसके हृदय में करुणा होती है वह कभी भी दूसरों को दुःखी नहीं करता। वह अपने शील तथा आचरण में इसका विशेष ध्यान रखता है। शीलता, सात्विकता तथा चरित्र–निर्माण के लिए करुणा अति आवश्यक है। आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं बुद्धि नहीं। इसलिए जीवन में सदाचार के लिए नियमों की अपेक्षा भावों का अधिक महत्व है। करुणा से श्रद्धा उत्पन्न होती है। अतः इन गुणों की वृद्धि के लिए करुणा को विशेष महत्व दिया जाता है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है उसमें करुणा का अंश रहता है। यह करुण प्रिय के सुख के अनिश्चय के कारण होती है। ज्ञानियों की दृष्टि में अनिश्चित बात से सुखी या दुःखी होना अज्ञान है। यही कारण है कि इस करुणा को कतिपय भारतीय भाषाओं में 'मोह' कहते हैं।

मनुष्य अपने संसार का स्वयं निर्माण करता है। वास्तव में मनुष्य का संसार तो वही लोग हैं जो उसके संपर्क या व्यवहार में आते हैं। वह उनसे ही प्रेम कर घनिष्ठता उत्पन्न कर लेता है स्वनिर्मित संसार का कोई भी अंश जब उससे बिछुड़ जाता है

तो स्वाभाविक रूप से उसे शौक होता है – उसके मन में करुणा तथा दया जागृत होती है।

सामाजिक जीवन की उपयोगिता के लिए करुणा का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार परस्पर सहायता आत्मरक्षा के लिए की जाती है। परन्तु शुक्ल जी इस मत के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि से इसका मूल कारण करुणा है – क्योंकि साधारणतः यह देखा जाता है कि व्यावहारिक जीवन में मनुष्य निर्बल की ही रक्षा करता है। बलवान् की नहीं। इसी करुणा का ही एक हल्का–सा रूप सहानुभूति है। यह एक वेग–रहित दुःख है जोकि अपने सम्बन्धियों के थोड़े–से ही क्लेश या दुःख को देखकर उद्‌भूत होता है। करुणा में आदान–प्रदान की भावना नहीं होती।

शुक्ल जी स्मृति और अनुमान को भावों का सहायक स्वीकार करते हैं। मनोवेगों या प्रवृत्ति से ही मानव जीवन की सजीवता है जिसमें भावों की तत्परता का भी योग रहता है। आज की सभ्यता में जीवन की कठिनाइयों की विवशता के कारण मनुष्य में सच्चे मनोवेगों के निर्वाह में कठिनाई ही रहती है। मनोवेगों के अनुकूल कार्य न करना उनको निर्जीव बनाना है। ऐसा करना अच्छा नहीं, व्यावहारिक जीवन में मनोवेगों का विरोध आवश्यकता, नियम और अन्याय तीन कारणों से किया जाता है। समय की आवश्यकता के अनुसार कभी–कभी नियम या न्याय के वशीभूत होकर मनोवेगों के प्रतिकूल कार्य करना पड़ता है। अतः करुणा के लिए कुछ त्याग आवश्यक है। इसीलिए शुक्ल जी का कथन है, "करुणा सेत का सौदा नहीं है।" करुणा प्रदर्शन के लिए थोड़ा बहुत त्याग अवश्य करना पड़ता है।

शिल्प

अन्य मनोवैज्ञानिक और सामाजिक भावभूमि पर रचित निबन्धों के समान 'करुणा' निबन्ध में भी समास और व्यास दोनों ही शैलियों के धूपछाँही रंग यत्रतत्र झिलमिलाते नज़र आते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

1. समास शैली

गद्य की इस शैली में थोड़े में बहुत कहने–समेटने की चेष्टा की जाती है यथा–

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है, उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है, उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी की प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रक्खी गई है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है, जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है, जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है।

यहाँ मानव मात्र के सामान्य मनोविज्ञान और मनोभावों के सम्बन्ध में शुक्ल जी सूक्ष्म दृष्टि और गहरी पकड़ का प्रमाण मिलता है।

2. व्यास–शैली

गद्य की इस शैली में किसी एक बात को खोल कर कहने के लिए विस्तार की पद्धति अपनाई जाती है। यथा –

मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना', ये नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े–बड़े अनर्थ हो जाते हैं, इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत–सा झूठ बोला जाता है, जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता।

3. साहित्यिक उक्तियों के उद्धरण

इनके कारण भी 'करुणा' निबन्ध में साहित्यिकता और सरसता के साथ–साथ सुबोधता और स्तरीयता भी आई है यथा गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन है –

पर उपकार सरसि न भलाई।
पर–पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

यहीं तुलसी की 'गीतावली', सूरदास के 'भ्रमर गीत' से भी गीत–पंक्तियाँ उद्धृत करने के साथ–साथ ये पंक्तियाँ भी एक वियोगिनी पत्नी के मन में पति के अनिष्ट की आशंका के सम्बन्ध में उसकी चिन्ता को स्पष्ट करती हैं –

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कुछ होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय ।।

4. भाषा–शैली

इस निबन्ध में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का भी व्यवहार हुआ है, जिससे गद्य–भाषा सुगठित, स्तरीय और मनोभाव प्रकाशिनी बन पड़ी है।

तत्सम शब्द – सम्बन्ध, ज्ञान, अनिष्ट, वियोग, स्वयं, प्रकार, दुःख, अज्ञात, व्यक्ति, संसर्ग, गुण, परिचित, रूप, सच्चरित्र, परेपकारी, महात्म, जीवन, निर्वाह, रमणी इत्यादि।

तद्भव शब्द – बहन (सं. भगिनी), सच्चा (सं. सत्य), सौ (सं. शत)

अरबी फ़ारसी शब्द

'जवाहरात' अरबी–फ़ारसी भाषा का संज्ञा पुलिंग शब्द है। 'खुशामद' फ़ारसी भाषा

का संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है।

'क़वायद' (शुद्ध रूप 'कवाइद' है) अरबी संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है। 'ज़ोर' फ़ारसी संज्ञा पुलिंग शब्द है। 'हज़ार' फ़ारसी संख्यावाचक विशेषण शब्द है।

सूक्तिपरकता

शुक्ल जी ने इस निबन्ध में ऐसे प्रयुक्त किए हैं, जोकि सूक्तियों के समान ही माने जा सकते हैं यथा –

1. मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमति अत्यन्त संकुचित होती है।

2. करुणा सेंत का सौदा नहीं है।

पौराणिक कथा–प्रसंग

शुक्ल जी गद्य में प्रायः पौराणिक और मिथकीय घटनाओं और प्रसंगों की बुनावट प्रसंगवश करते रहते हैं यथा – .....राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्‌भुत पालन किया था।'

जीवनानुभवों का वर्णन

शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक तथ्यों के प्रतिपादन हेतु जीवन से भी सटीक दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं यथा हमारा कोई नौकर बहुत बुड्‌ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है, जिससे हमारे काम में हर्ज़ होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है, पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है।

1.3.4 सप्रसंग व्याख्याएँ

1. "मनुष्य की प्रकृति.....मनोविकार है।"

प्रसंग – यह गद्यांश हिंदी के प्रसिद्ध निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध –संग्रह 'चिन्तामणि' (भाग प्रथम) से उद्‌धृत किया गया है।

व्याख्या – शुक्ल जी सारे सद्‌गुणों का मूलाधार करुणा को ही मानते हैं। मनुष्य के हृदय में करुणा की भावना जितनी अधिक होगी, उसका स्वभाव उतना ही अधिक शीलवान और सात्त्विक होगा। हमारे जिन कर्मों से दूसरों के वास्तविक सुख का साधन और दुःख का निवारण होता है वे ही कर्म शुभ और सात्त्विक माने जाते हैं और यह भावना करुणा द्वारा ही उत्पन्न होती है। इसी कारण शुक्ल जी शील और सात्त्विक भावों की उत्पत्ति करुणा से ही मानते हैं। कृपा या दया में भी दूसरों को दुःखों से मुक्त करने की योजना रहती है, परन्तु दया या कृपा में व्यक्तिगत लगाव किसी हद तक रहता है, जिसके कारण उसमें बदले की भावना छिपी रहती है। दूसरे करुणा के आलम्बन को दुःख निवृति की आवश्यकता कृपा–पात्र से अधिक है।

2. "दूसरे के उपस्थित दुःख.....समझ जाता है।"

व्याख्या — यहाँ शुक्ल जी करुणा और शील में अन्तर बताते हैं। करुणा मनोविकार है और शील साधारण सद्वृत्ति अर्थात् गुण। जब हम सामने किसी को दुःखी होते हुए देखते हैं तो हम स्वयं भी दुःखी हो उठते हैं और हमारा यह दुःख अत्यन्त तीव्र होता है। अपनी तीव्रता के कारण ही शुक्ल जी इसे सद्गुण या शील न मानकर मनोविकार मानते हैं क्योंकि मनोविकारों की उत्पति किसी भाव की तीव्र अनुभूति द्वारा ही होती है। यहाँ तीव्र अनुभूति करुणा की होती है। उसके विपरीत जब हम यह सोचते हैं कि हमारे द्वारा आगे किए जाने वाले किसी कार्य से किसी को दुःख पहुँचने की सम्भावना है तो हम उस कार्य के करने से स्वयं को बचाते हैं क्योंकि हम अकारण ही किसी को दुःख नहीं पहुँचाना चाहते। ऐसी स्थिति में हमारी यह भावना करुणा न कही जाकर 'शील' या 'सद्वृत्ति' ही कही जाएगी।

3. "सामाजिक जीवन को.....आवश्यक है।"

व्याख्या — सामाजिक जीवन को अधिक दृढ़ और स्थायी बनाने के लिए मानव–मात्र में करुणा की भावना का प्रसार करना आवश्यक है क्योंकि करुणा से ही प्रेरित होकर मानव एक–दूसरे की सहायता करने की ओर प्रवृत्त होता है और समाज का संगठन एवं सुदृढ़ स्थिति मानवों के पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर करती है। दूसरी बात यह कि करुणा से उत्पन्न सहायता करने की प्रवृत्ति में बदले या प्रतिपादन की भावना न होकर एक शुद्ध निःस्वार्थमय और सात्त्विक भावना होती है। अतः जिस समाज में करुणा का जितना ही अधिक प्रसार होगा, उस समाज में उतनी ही अधिक शान्ति और सुव्यवस्था रहेगी और इस शान्ति और सुव्यवस्था द्वारा ही हमारा सामाजिक जीवन सुदृढ़ और उत्पन्न बन सकेगा।

4. "मनुष्य के प्रत्यक्ष.....विस्तार बढ़ाता है। "

व्याख्या — हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान देश और काल की सीमाओं के भीतर ही आबद्ध रहता है, अर्थात् हमने जिस देश या स्थान–विशेष को या किसी काल–विशेष में घटित होने वाली घटनाओं को देखा है तो हमारा ज्ञान उसी देश या काल तक सीमित रहेगा। प्रत्येक मनुष्य सभी स्थानों या देशों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। आयु का बन्धन काल विषयक ज्ञान की सीमा को संकुचित बना देता है। परन्तु अपने इस ज्ञान की सीमाओं को विस्तृत करने के साधन भी उपलब्ध होते हैं और वे साधन हैं – दूसरों द्वारा अपनी स्मृति में सुरक्षित ज्ञान, अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर वैसी ही स्थितियों का अनुमान, तथा दूसरों द्वारा अर्जित ज्ञान को पढ़ या सुन कर अपने ज्ञान की वृद्धि। जब मनुष्य अपने ज्ञान–वर्द्धन के लिए इन साधनों का उपयोग करने लगता है तो उसके ज्ञान की संकुचित सीमाएँ विस्तृत हो उठती हैं। भूगोल के अध्ययन द्वारा हम अपने घर बैठे ही सम्पूर्ण संसार की स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और इतिहास की सहायता से बीते हुए युगों की घटनाओं और व्यक्तियों का।

5. "सामाजिक जीवन..... आवश्यक है। "

व्याख्या — करुणा ही पारस्परिक सहायता के लिए प्रेरित करती है। यदि समाजशास्त्रियों की यह स्थापना मान ली जाये कि मनुष्य एक–दूसरे की सहायता अपनी रक्षा की भावना से करता है तो लोग मोटे, मुसटण्डे और समर्थ लोगों पर ही करुणा दिखाते, दीन–दुखियों पर नहीं। उल्टा हमारी करुणा निपट निस्हाय असमर्थों के प्रति अधिक होती है।

अपने परिचित व्यक्तियों के थोड़े शोक–विवाद पर जो वेग–रहित दुःख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं। आजकल कृत्रिम शिष्टाचार के तौर पर सहानुभूति के तार, चिट्ठीयाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। हृदय की सच्चाई से हम कुछ दूर जा रहे हैं।

6. "करुणा अपना बीच.....नहीं फेंकती है।"

व्याख्या — जिसके प्रति करुणा होती है उसके हृदय में करुणा करने वाले के प्रति करुणा नहीं जगती, कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रेम भाव प्रकट होते हैं। क्रोध और प्रेम की तरह करुणा प्रेष्य भाव नहीं है। बहुत से उपन्यासों में युवतियों के प्रेम का आधार उनके दुष्टों से उद्धार के रूप में दिखाई गई करुणा ही होती है।

7. "मनुष्य की सजीवता.....पर जोर देते हैं।"

व्याख्या — शुक्ल जी का कथन है कि वर्तमान भौतिक सभ्यता और जीवन–निर्वाह को कठिनाई के कारण आजकल मनुष्य के मनोवेग दबते जा रहे हैं। अपने ही स्वार्थों से बंधे रहने के कारण उसका हृदय पर दुःख कातर नहीं होता, दयार्द्र नहीं होता, उसे दूसरों का दुःख दूर करने की फुर्सत ही नहीं । उसकी भावुकता नष्ट होती जा रही है।

निरन्तर विपरीत प्रवृत्ति होने से भी मनोवेग दब जाता है। जैसे — बार–बार क्रूर कर्म करने वाले व्यक्ति का धीरे–धीरे दया का भाव दबने लगेगा। प्रायः तीन बातों से मनोवेग के अनुसार कार्य करने में विवशता होती है — (1) आवश्यकता, (2) नियम (3) न्याय। अपने किसी अशक्त वृद्ध नौकर को हम उसकी दशा पर दया होते हुए भी, कार्य की आवश्कता के कारण हटाने पर विवश होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने नियम–पालन के लिए ही अपनी करुणा को दबाया। इसी प्रकार न्याय के आश्रय भी मनुष्य करुणा के अनुसार आचरण करने में विवश हो जाता है।

8. "जब बच्चे को सम्बन्ध..... करुणा कहते हैं।"

व्याख्या — दुःख के भेदों में करुणा नाम के भाव का उदय होता है जबकि मनुष्य अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आता है। अन्य व्यक्तियों के साथ परिचय प्राप्त कर वह उनमें घुल–मिल जाता है। इससे प्राकृतिक रूप से वह दूसरे के सुख में सुखी होता है और दूसरे के दुःख में दुःखी होता है इसी संसर्ग से प्राप्त ज्ञान से मानव में जिस वेगपूर्ण भाव का उदय होता है उसे कारण कहते हैं।

9. "करुणा का विषय.....अपना दुःख नहीं।"

व्याख्या – करुणा में व्यक्ति अपने दुःख से दुःखी नहीं होता, वह तो अन्य किसी प्रियजन या सम्बन्धी के दुःख से पीड़ित होता है। क्योंकि परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो पाने से अपने स्मपर्क में आने वाले सभी प्रियजनों का दुःख अपना दुःख हो जाता है।

10. "करुणा सैंत.....सौदा नहीं है।"

व्याख्या – करुणा का प्रदर्शन करना कोई सुगम कार्य नहीं है। इसमें अनेक कष्टों को सहन करके व्यक्ति के प्रति करुणा के भाव को प्रकट करता है। उसे कितनी ही विपदाओं को सहन करना पड़ता है।

1.3.4.1 स्वयं जांच अभ्यास :

1. कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से 'करुणा' निबंध का सार लिखें।

.....

.....

.....

1.3.5 सारांश :

मानव प्रवृति के अनुसार करुणा का विपरीत भाव क्रोध होता है। जिसके प्रति क्रोध होता है, उसे हानि पहुंचाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु जिसके लिए मन में करुणा का भाव होता है, उसके लिए सदैव भलाई का प्रयास किया जाता है।

1.3.6 प्रश्नावली :

1. 'करुणा' निबन्ध के सार को अपने शब्दों में लिखें।
2. 'करुणा' निबन्ध का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण करें।
3. 'करुणा' में बाधक तीन तत्व कौन से हैं। विस्तृत चर्चा करें।

1.3.7 सहायक पुस्तकें :

1. चिन्तामणि : रामचन्द्र शुक्ल

पाठ संख्या : 1.4

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था

इकाई की रूपरेखा :

1.4.0 उद्देश्य
1.4.1 प्रस्तावना
1.4.2 'काव्य में लोकमंगल' की साधनावस्था' निबन्ध का सार
1.4.2.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.4.3 सारांश
1.4.4 प्रश्नावली
1.4.5 सहायक पुस्तकें

1.4.0 उद्देश्य :

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था निबन्ध में शुक्ल जी साधनावस्था को ग्रहण करने वाले कवियों को पूर्ण कवि मानते हैं क्योंकि उनका मन उपभोग पक्ष अर्थात् सिद्धावस्था की ओर नहीं जाता। काव्य का मुख्य लक्ष्य लोकमंगल को माना गया है और यह लोकमंगल साधनावस्था में ही संभव है।

1.4.1 प्रस्तावना :

अर्थात् जब प्रयत्न और संघर्ष पक्ष चल रहे होते हैं तब उत्कृष्ट कोटि के काव्य का निर्माण होता है एवं उससे लोक में मंगल का विधान होता है। सिद्धावस्था का काव्य भोग पक्ष को लेकर चलता है इसलिए इसमें लोक उपेक्षित हो जाता है। काव्य और कवि कर्म सौन्दर्य पर भी इस निबंध पर विचार किया गया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस निबंध में काव्य सौंदर्य, कविकर्म सौन्दर्य, काव्य रचना का मूल उद्देश्य पर विचार किया गया है।

1.4.2 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबन्ध का सार

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक वैचारिक निबन्ध है। विचार प्रधान होते हुए भी इसमें बुद्धि और भावुकता का समन्वय है। आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक ही मानकर चलती रही। इस जगत् के

बीच जिस आनन्द–मंगल की विभूति का साक्षत्कार होता रहा। उसी दृश्य के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'राम–राज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म–पुस्तक में आदम को खुदा की प्रतिमूर्ति बताया गया, पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में ही दिखायी पड़ा।

सत्, चित् और आनन्द–ब्रह्मा के उन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति–मार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जाएँगी–साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्मा के 'आनन्द' स्वरूप का सतत् आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत–विकास रहता है, न सुख–समृद्धि–पूर्ण हास–विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुँधली–धुँधली फूटती हुई अंत में वसंत की पूरी प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द–ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द–मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख–सौन्दर्यमय, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम–व्यापार इत्यादि उपभोग–पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द–मंगल की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन मे तत्पर शक्ति के संचरण में भी। उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा, इत्यादि की गतिविधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध ा होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अन्धकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षत्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग–पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्धस्वरूप या उपभोग–पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख–सौंदर्यमय, माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम–क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला–क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं –

(1) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न–पक्ष को लेकर चलनेवाले।

(2) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग–पक्ष को लेकर चलनेवाले।

डंटन (Theodore Watts-Dunton) ने जिसे शक्ति काव्य (Poetry as an energy) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक–प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय के भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डंटन ने शक्ति–काव्य से भिन्न को जो कला–काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित हैं। साधनावस्था या प्रयत्न–पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करनेवाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं व्यज्जित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है–अर्थात् मनोरंजन का उपभोग–मात्र का विधायक–तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए। काव्य–समीक्षा में फरासीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप से काव्य–दृष्टि इधर कितनी संकुचित हो गई, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबन्ध में करेंगे।

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न–पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय। हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबन्धकाव्य; भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत, उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। योरपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इसलाम इत्यादि प्रबन्ध काव्य तथा पुराने बैलड (Ballads)।

आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं– आर्य्यासप्तशती, गाथा सप्तशती, असरुशतक, गीतगोविन्द तथा श्रृंगाररस के फुटकल पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण–भक्त कवियों की पदावली, बिहारी–सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल श्रृंगारी पद्य, रास–पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएँ, फारसी उर्दू के शेर और गजलें। अंगरेजी की लीरिक (Lyrics) कविताएँ तथा कई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनन्द की साधनावस्था

लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्मा की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट–पतलून–हैटवाले को धाराप्रवाह संस्कृत बोलने अथवा किसी पण्डित–वेशधारी सज्जन को

अंगरेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुत व्यक्तित्व का जो उक चमत्कार–सा दिखाई पड़ता है उसकी ढह में भी सामंजस्य का यही सौंदर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदि–कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फटती है। इससे कवि हमारे सामने असौंदर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर–भीतर आनन्द–काल के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलन्त रोष है तो उसके और सब ओर करुण दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था।

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्म–वृत्ति को हटाने में धर्म–वृत्ति की तत्परता–चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर–भगवान् की आनन्द–कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है; आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अन्त तक सुन्दर होती है–अन्त चाहे सफलता के रूप में हो चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्य कवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासन्ध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति–विधि में पूरा सौंदर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता, क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोध है।

आनन्द–कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति कि विफलता में भी सौंदर्य का दर्शन करनेवाले अनेक कवि हुए हैं। अंग्रेजी कवि शैली संसार में फैले पाषण्ड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य–मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सौर्वभौम संसार का स्वप्न देखने वाले कवि थे। उनके 'इस्लाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) नामक द्वादशसर्ग–बद्ध महाकाव्य में मनुष्य–जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Loan and Cythna) में मंगल–शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दान्त अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अन्त में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक को फिर आवृत्त दिखाकर छोड़ दिया है।

जैसे ऊपर कह आये हैं, मंगल–अमंगल के द्वंद्व में कवि लोग अन्त में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझकर नाक–भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाये जायेंगे पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्रायः दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार–बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगलशक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिये; धर्म–शासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म–सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तः प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौंदर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौंदर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता है। मंगल–शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप–माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक–हृदय आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुण वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते हैं–

न तुला–विषये तवाकृतिर्न बचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्व दुदाहरणाऽकृतौ गुणा इति सामुद्रिक सार–मुद्रणा।।

भीतरी और बाहरी सौंदर्य, रूप–सौंदर्य और कर्म–सौंदर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद–निरूपण से बहुत पुरानी है और बिल्कुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। 11वीं शताब्दी के कवि शैली–जो राजशासन, धर्म–शासन, समाज–शासन आदि सब प्रकार की शासन–व्यवस्था के घोर विरोधी थे– इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने भी अपने प्रबन्ध–काव्यों में रूप–सौंदर्य और कर्म–सौंदर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिये अपना प्राण तक उत्सर्ग करने वाले, घोर से घोर कष्ट और यन्त्रणा से मुँह न मोड़नेवाले, पराक्रमी, दयालु और धीर है, उसी प्रकार रूप–माधुर्य सम्पन्न भी।

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को न देते बनेगी। माईकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का रूप–गुण–सम्पन्न नायक बनाया पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होंने

जो उलट–फेर किया, वह कला या काव्यानुभूति को किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं, बल्कि, एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, जिसका शोक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले पहल प्रचलित होने पर प्रायः सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार ब्रजभाषा के एक दूसरे कवि नवीनचन्द्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित किए गए हैं। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूपवाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आए हैं और अब भी लेते हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन उद्‌भावना का, अपनी नई कल्पित बातों को बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति–विशेष को लेकर जो भावनायें उठती हैं उनके आश्रय के लिये जब कि नए आख्यानों और नये पात्रों की उद्‌भावना स्वछन्दतापूर्वक की जा सकती है तब पुराने आदर्शों को विकृत या खण्डित करने की क्या आवश्यकता है?

कम–सौंदर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि–परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म–सौंदर्य के एक दूसरे पक्ष में ही केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रर्दशन और आचरण में ही–काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा–सुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौंदर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और बाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके ह्रदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्षण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य–कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव–मण्डल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में (Conscious) रहता है और कुछ अन्तस्संज्ञा के क्षेत्र (sub-concious region) में छिपा रहता है। संसारी भावों के संचरण–काल में कभी–कभी उनके स्थायी भाव कारणरूप में अन्तस्संज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रतिभाव में संचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँचती हुई होती है, उस क्षण में आश्रय को ही रति भाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्ष्ण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा

अन्तर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबन्धकाव्य के प्रधान पात्र में कोई मूल प्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना–चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर–कठोर और तीक्ष्ण दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मंगलविधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है उसके सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है। अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालनेवाले पात्रों की उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता चाहे उनकी व्यंजना में रस या निष्पत्ति करनेवाले तीनों अवयव वर्तमान हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौंदर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवों के कारण ''शास्त्र–स्थिति–सम्पादन'' चाहे जो जाय पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा। पाठक केवल चरित्र–द्रष्टा मात्र रहेगा; उसका केवल मनोरंजन होगा; भाव में लीन करने वाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसको न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीजभाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावों की सुन्दरता की मात्रा उस बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है। जैसे, यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलम्बित होगी– कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी मित्र आदि है–तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीजरूप अंतस्संज्ञा में स्थित करुणा यदि इस ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौंदर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रों में से एक तो अपने भाई को अत्याचार और पीड़ा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जन–समूह की गति में बाधा डालनेवाले के प्रति दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौंदर्य के परिणाम में बहुत अन्तर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं–करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अतः साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलनेवाले बीजभाव करुणा ही ठहरता है। यदि इसे शायद अपने दो, नाटकों को लेकर चलनेवाले महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र रस

कह दिया। रामायण का जीवभव करुणा है कि जिसका संकेत क्रौंच को मारने वाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुँह से निकले वचन द्वारा आरम्भ ही में मिलता है। उसके उपरान्त भी बालकांड के 15वें सर्ग में इसका आभास दिया गया है जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण–द्वारा पीड़ित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि–काव्य के भीतर लोक–मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति जोर पकड़ती दिखाई देती है। सीताहरण होने पर उसमें आत्म–गौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्म–गौरव और दाम्पत्यप्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्मगौरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि–सदृश क्रोध' में काव्य का वह लोकोत्तर सौंदर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्न–बाधा से मुक्त हो जाता है तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम–प्रर्वतन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण–भाव व्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौंदर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तन–वादी शैली के महाकाव्य 'The Revolt of Islam' के नायक–नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देनेवाले, गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शान्त वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचण्ड वेग से युद्ध–क्षेत्र में बढ़ने वाले, पाषण्ड, लोकपीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्विक तेज से तमतमानेवाले, भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं। शैली ने भी काव्यकला का मूलतत्व प्रेमभाव ही माना था, पर अपने को सुख–सौंदर्य–मय माधुर्यभाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्धक्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौंदर्य और गत्यात्मक (dynamic) सौंदर्य, उपभोग–पक्ष और प्रयत्न–पक्ष दोनों उनमें पाये जाते हैं।

टाल्सटाय के मनुष्य–मनुष्य में भ्रातृ–प्रेम–संचार को ही एकमात्र काव्यतत्व कहने का बहुत कुछ कारण साम्प्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हल्की रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण समझना चाहिए। टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्नपक्ष को लेते अवश्य हैं पर केवल पीड़ितों की सेवा–सुश्रूषा की दौड़धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्ट, सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौंदर्य

स्वीकार करते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अन्तः प्रकृति की सात्विक विभूति—मानते हैं विदेशी अर्थ में इस 'अध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। 'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।

पूर्णप्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में—दूसरे भावों की तह में अर्थात् अन्तस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप में भी और प्रकाश रूप में भी। हम पहले कह आए हैं कि लोक में मंगलविधान की ओर प्रवृत्त करने वाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। यह भी दिखा आए हैं कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचंड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होया, तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौंदर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्वगुण—प्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक—व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि—तक जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्यजी ने सच्चिदानन्द के सत् स्वरूप का प्रकाश करने वाली शक्ति की 'संधिनि' कहा है। व्यवहार में 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिये जाते हैं—'जो वास्तव में हो' तथा 'अच्छा या शुभ'।

जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्द—कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्व गुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टिरूप में और सब ओर वे सत्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रंचडता भी सात्विक तेज के रूप में भासित होगी। इसी से अवतार—रूप में हमारे यहाँ भगवान् की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि' कठोर और दूसरी ओर 'कुसुमादपि' मृदु रखी गयी है—

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था निबन्ध में शुक्ल जी साधनावस्था को ग्रहण करने वाले कवियों को पूर्ण कवि मानते हैं क्योंकि उनका मन उपभोग पक्ष अर्थात् सिद्धावस्था की ओर नहीं जाता। काव्य का मुख्य लक्ष्य लोकमंगल को माना गया है और यह लोकमंगल साधनावस्था में ही संभव है। अर्थात् जब प्रयत्न और संघर्ष पक्ष चल रहे होते हैं तब उत्कृष्ट कोटि के काव्य का निर्माण होता है एवं उससे लोक में मंगल का विधान होता है। सिद्धावस्था का काव्य भोग पक्ष को लेकर चलता है इसलिए इसमें लोक उपेक्षित हो जाता है। काव्य और कवि कर्म सौन्दर्य पर भी इस निबंध पर विचार किया गया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस निबंध में काव्य सौन्दर्य, कविकर्म सौन्दर्य, काव्य रचना का मूल उद्देश्य पर विचार किया गया है।

1.4.2.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबंध का सार अपने शब्दों में लिखें।

.....

.....

.....

1.4.3 सारांश :

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण–भाव व्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौंदर्य का साक्षात्कार होता है।

1.4.4 प्रश्नावली :

1. प्रस्तुत निबन्ध में शुक्ल जी ने काव्य रचना का मूल उद्देश्य किसे कहा है?
2. 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' का क्या अभिप्राय है?

1.4.5 सहायक पुस्तकें

1. चिन्तामणि : रामचन्द्र शुक्ल

पाठ संख्या : 1.5

'क्रोध' : निबन्ध
'क्रोध' निबन्ध का सार–संक्षेप

इकाई की रूपरेखा :

1.5.0 उद्देश्य
1.5.1 प्रस्तावना
1.5.2 'क्रोध' निबन्ध का सार–संक्षेप
1.5.3 'क्रोध' निबन्ध का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण
1.5.4 सप्रसंग व्याख्या
1.5.4.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.5.5 सारांश
1.5.6 प्रश्नावली
1.5.7 सहायक पुस्तकें

1.5.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय के माध्यम से विद्यार्थियों को 'क्रोध' निबन्ध का सार संक्षेप के साथ–साथ इस निबन्ध के कथ्य एवं शिल्प के बारे में भी विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी। साथ ही निबन्ध में से कुछ महत्वपूर्ण गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या भी विद्यार्थियों के लिए दी जा रही है।

1.5.1 प्रस्तावना :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विकास मूलतः काव्यालोचक के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और जो कुछ लिखा, वह इसका पूरक है। कवि कर्म विधान के, उनकी दृष्टि में दो पक्ष हैं – भाव और विभाव पक्ष। कविता में भाव या स्थायीभाव की अनिवार्यता पहले से भी स्वीकृत रही है। कहीं उस पर ज्यादा जोर दिया गया है और कहीं कम।

1.5.2 'क्रोध' निबन्ध का सार–संक्षेप :

1. दुःख के कारण के ज्ञान से क्रोध का जन्म :

क्रोध दुःख के चेतन कारण से साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।

साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन–चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नहीं होता। दुःख के सज्ञान कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने वाला मनोविकार होने के कारण क्रोध का अविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है।

2. जीवन में क्रोध का अनुभव :

हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि क्रोध करने वाले के मन में सदा भावी कष्ट से बचने का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेतना सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए हैं।

3. क्रोध में क्षणिक प्रतिकार और स्वरक्षा :

जिससे एक बार दुःख पहुँचा पर उसके दुहराए जाने की सम्भावना कुछ भी नहीं है, जो कष्ट पहुँचाया जाता है, वह प्रतिकार मात्र है। उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। हमारा पड़ौसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो–चार टेढ़ी–सीधी सुना जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार कहलाएगा क्योंकि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ सहने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जाएगी। इन दोनों दृष्टान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःख दाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है, पर एक में वह परिणाम आदि का विचार बिल्कुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। क्रोध के समय लोगों के मन में लोक–कल्याण की यह व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप में ही होता है।

4. अन्धो क्रोध की उपेक्षा उसके कारण और फल पर विचारः

क्रोध करने वाला जिस से दुःख आता है, उसी ओर देखता है, अपनी ओर नहीं। जिसने दुःख पहुँचाया, उसका नशा हो या उसे दुःख पहुँचे, क्रुद्ध का यही लक्ष्य होता है। न तो वह यह देखता है कि मैंने भी कुछ किया है या नहीं और न ही इस बात का ध्यान रहता है कि क्रोध के वेग में मैं जो कुछ करूँगा, उसका परिणाम क्या होगा। यही क्रोध का अन्धापन है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ है मन में दुःखदाता की शक्ति के रूप और परिणाम के निश्चय दया–भय आदि और भावों के संचार तथा अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही, तो बड़ा अनर्थ खड़ा हो जाता है, जैसे यदि कोई सुने कि उसका शत्रु बीस–पचीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति विचार और अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध किए उसे मारने के लिए अकेले दौड़ पड़े, तो उसके मारे जाने में बहुत कम सन्देह समझा जाएगा। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त, उसका उद्देश्य अच्छी तरह समझ लेने पर ही आवश्यक मात्रा और उपयुक्त स्थिति

में ही क्रोध वह काम दे सकता है, जिसके लिए उसका विकास होता है।

5. क्रोध के पात्र में भय और क्षमा :

क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि या पीड़ा पहुँचाने के पहले आलम्बन में भय का संचार करना रहता है। जिस पर क्रोध प्रकट किया जाता है, वह यदि डर जाता है और नम्र होकर पश्चाताप करता है तो क्षमा का अवसर सामने आता है। क्रोध का गर्जन तर्जन क्रोधपात्र के लिए भावी दुष्परिणाम की सूचना है, जिससे कभी–कभी उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और दुष्परिणाम की नौबत नहीं आती। एक की उग्र आकृति देखकर दूसरा किसी अनिष्ट व्यापार से विरत हो जाता है या नम्र होकर पूर्वकृत दुर्व्यवहार के लिए क्षमा चाहता है।

6. अभिमानी पर अहानिकर क्रोध–प्रदर्शन

बहुत से स्थलों पर क्रोध का लक्ष्य किसी का गर्व चूर करना मात्र रहता है अर्थात् दुःख का विषय केवल दूसरे का गर्व या अहंकार होता है। अभिमान दूसरों के मन में या उसकी भावना में बाधा डालता है, उससे वह बहुत से लोगों को यों ही खटका करता है। लोग जिस तरह हो सके, अपराध द्वारा, हानि द्वारा अभिमानी को नम्र करना चाहते हैं। अतिभमान पर जो रोष पर जो रोष होता है उसकी प्रवृति अभिमानी को केवल नम्र करने की रहती है, उसको हानि या पीड़ा पहुँचाने का उद्देश्य नहीं होता। संसार में बहुत से अभिमान का उपचार अपमान द्वारा ही हो जाता है।

7. क्रोध में आत्मपीड़न

कभी–कभी लोग अपने कुटुम्बियों या स्नेहियों से झगड़कर क्रोध में अपना ही सर पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता, क्योंकि बिल्कुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में अपना सर पटकते या अंग–भंग करते देखे तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है, जिसे उसके सर पटकने की परवाह है, अर्थात् जिसे उसका सर फटने से उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

8. अपनिष्कृत क्रोध का बचकानापन :

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी–कभी मनुष्य यह भी विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है, उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़ पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुढाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते–फूँकते थक गए। जब आग न जली, तब उस पर क्रोध करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार क्रोध अपरिष्कृत है।

9. क्रोध का दया से सम्बन्ध

क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला है, इसी से अवसर पड़ने पर वह और मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। कभी यह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थकष्ट में होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शान्त कर लेते । ऐसी अवस्था में क्रोध ा ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। काम क्रोध ही करता है, पर नाम दया का होता है। लोग यही कहते हैं कि ''उसने दया करके बचा लिया'' यह कोई नही कहता है कि ''क्रोध करके बचा लिया।'' ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं करती।

10. सुख–शन्ति के लिए क्रोध का निवारण :

क्रोध शान्ति–भंग करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है जिसके प्रति क्रोध–प्रदर्शन होता है वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुःख पर उसकी भी त्योरी चढ़ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, वह उचित है या अनुचित। इसी से धर्म, नीति और शिष्टाचार तीनों में क्रोध के निरोध का उपदेश पाया जाता है। सन्त लोग तो खलों के वचन सहते ही हैं , दुनियादार लोग भी न जाने कितनी ऊँची–नीची पचाते रहते हैं। सभ्यता के व्यवहार में भी क्रोध नहीं, तो क्रोध के चिह्न दबाए जाते हैं। इस प्रकार का प्रतिबन्ध समाज की सुख–शन्ति के लिए बहुत लाभदायक है।

11. क्रोध के दो प्रकार के प्रेरक :

क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं – अपना दुःख और पराया दुःख। जिस क्रोध त्याग का उपदेश दिया जाता है, वह पहले के दुःख से उत्पन्न क्रोध है। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा, उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। दुःख से आगे बढ़ने पर भी कुछ दूर तकक्रोध का कारण थोड़ा–बहुत अपना ही दुःख कहा जा सकता है, जैसे अपने या आत्मीय परिजन का दुःख इष्ट–मित्र का दुःख। इसके आगे भी जहाँ तक दुःख की भावना के साथ कुछ ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है, वह हमारे ग्राम पुर या देश का रहने वाला है, वहाँ तक हमारे क्रोध से सौन्दर्य की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी, वही सच्ची पर दुःख कातरता मानी जाएगी, वही क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त होगा, ऐसा सौन्दर्य जो काव्य क्षेत्र के बीच भी जगमगाता है।

12. पर दुःख जन्य क्रोध ही सुन्दर :

क्रोध के वध पर बाल्मीकी मुनि से करुण क्रोध का सौन्दर्य एक महाकाव्य का सौन्दर्य हुआ। उक्त सौन्दर्य का कारण है निर्विशेषता। बाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणिमात्र के दुःख की सहानुभूति छिपी है, राम के क्रोध के भीतर सम्पूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ है। अपने ही दुःख पर उत्पन्न क्रोध तो प्रायः समीचीनता तक ही रह जाता है, सौन्दर्य दशा तक नहीं पहुँचता। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध में या तो हमें तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नहीं रहता अथवा वह अपना प्रभाव खो चुकी रहती है।

बहुत दूर तक और बहुत काल से पीड़ा पहुँचाने चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे क्षमा के बीच न दिखाई देगी, नैराश्य, कायरता और शिथिलता ही छाई दिखाई पड़ेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पड़ेगी, उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि–सदृश क्रोध ऐसा ही है। वह सात्विक तेज है, तामस ताप नहीं।

13. राजकोप की सीमा :

दण्ड कोप का ही एक विधान है। राज दण्ड राजकोप है जहाँ कोप लोककोप और लोककोप धर्मकोप है। जहाँ राजकोप धर्म कोप से एकदम भिन्न दिखाई पड़े, यहाँ उसे राजकोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यों का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का अधिकार नहीं हो सकता। उसका सम्मन जनता अपने लिए आवश्यक नहीं समझ सकती।

14. क्रोध का स्थायी रूप वैर :

वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है, उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध का वेग और उग्रता तो धीमी पड़ जाती है, पर लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक हुआ करती है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय प्रायः नहीं देता, पर वैर उसके लिए बहुत समय देता है। पूछिए तो क्रोध और वैर का भेद केवल कालकृत है। दुःख पहुँचाने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करने वाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला भाव वैर है। किसी ने आपको गाली दी। यदि आपने उसी समय उसे मार दिया तो आपने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद आपको कहीं मिला। अब यदि आपने उससे बिना फिर गाली सुने, मिलने के साथ ही उसे मार दिया, तो यह आपको वैर निकालना हुआ।

15. क्रोध का नम्र रूप चिड़चिड़ाहटः

क्रोध का एक हल्का रूप है चिड़चिड़ाहट, जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों ही तक रहती

है। इसका कारण भी वैसा उग्र नहीं होता। कभी–कभी चित्त व्यग्र रहने, किसी प्रवृत्ति में बाधा पड़ने या किसी बात का ठीक सुभीता न बैठने के कारण ही लोग चिड़चिड़ा उठते हैं। ऐसे सामान्य कारणों के अवसर बहुत अधिक आते रहते हैं, इसमें चिड़चिड़ाहट स्वभावगत होने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, सम्प्रदाय या संस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखने वाले बाहर की दुनिया देख–देखकर अपने जीवन भर चिड़चिड़ाते चले जाते हैं। चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है इसी से यह रोगियों और बुड्ढ़ों में अधिक पाई जाती है। इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने से यह बहुतों के विशेषतः बालको के विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है।

16. अमर्ष का विकसित रूप क्रोध :

किसी बात का बुरा लगना, उसकी असह्यता का क्षोभयुक्त और आवेगपूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है। पूर्ण क्रोध की अवस्था में मनुष्य दुःख पहुँचाने वाले पात्र की ओर ही उन्मुख रहता है, उसी को भयभीत या पीड़ित करने की चेष्टा में प्रवृत्त रहता है। अमर्ष में दुःख पहुँचाने वाली बात के ब्यौरे पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है। इसकी ठीक व्यंजना ऐसे वाक्यों में समझनी चाहिए "तुमने मेरे साथ यह किया, वह किया। अब तक तो मैं सहता आया, अब नहीं सह सकता।" इसके आगे बढ़कर जब कोई दाँत पीसता और गरजता हुआ यह कहने लगता है कि, "मैं तुम्हें धूल में मिला दूँगा, तुम्हारा घर खोदकर फेंक दूँगा।" तब क्रोध का पूर्ण स्वरूप समझना चाहिए।

1.5.3 'क्रोध' निबन्ध का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण :

कथ्य :

क्रोध तब उत्पन्न होता है जब हम दुःख के कारण को जान लेते हैं या उसका अनुमान कर लेते हैं। छोटे से बच्चे को मारने पर उसे पीड़ा तो होती है और उसे वह रोकर व्यक्त कर देता है, परन्तु उसका कारण समझने की शक्ति न होने की वजह से क्रोध नहीं करता। बच्चे में क्रोध की भावना तभी उत्पन्न होती है, जब वह उसका कारण समझने लगता है।

हमारे सामाजिक जीवन में क्रोध की बराबर ज़रूरत पड़ती है। मन में यदि क्रोध न उत्पन्न हो तो मनुष्य अपने दुःख के कारणों को दूर नहीं करेगा और दुष्ट उसे सदैव सताते रहेंगे। क्रोध से ही दुष्टों की बुरी आदतों को रोका जा सकता है। जब कोई व्यक्ति हमें कष्ट पहुँचाता है और फिर हमें उससे कष्ट प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती तो हम बदले में उसे जो कष्ट पहुँचाते हैं, वह प्रतिकार कहलाता है। परन्तु जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ सम्भावना होगी, वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा, उसमें स्वरक्षा की भावना भी मिली होगी। व्यवहारिक जीवन में क्रोध अधिकतर प्रतिकार के रूप में होता है। क्रोध करने में लेक–कल्याण की भावना भी रहती हैं, परन्तु कभी–कभी ही।

क्रोध में दुःख के चेतन कारण का ज्ञान रहता है, परन्तु जहाँ इस ज्ञान के विषय में त्रुटि या भूल होती है वहाँ क्रोध धोखा देता है। क्रोध करने वाला दुख पहुँचाने वाले की ओर ही देखता है, अपनी और नहीं। वह यह नहीं देख पाता कि उसने भी क्रोध के लिए कारण उत्पन्न किया है या नहीं और न यह सोचता है कि मेरे क्रोध का क्या परिणाम निकलेगा। यहीं क्रोध का अन्धापन कहलाता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध करते समय शत्रु की शक्ति का भी अनुमान लगा लेना चाहिए। इसलिए क्रोध में भी समझ–बूझ से काम लेने पर ही वह लाभकारी हो सकता है।

क्रोध को व्यक्त करने वाली उग्र चेष्टाओं द्वारा पहले क्रोध के पात्र में भय का संचार करने का लक्ष्य रहता है। यदि हमारा क्रोध–पात्र भयभीत होकर पश्चाताप कर ले तो हमारा क्रोध शान्त हो जाता है और हम उसे क्षमा कर देते हैं। कई बार क्रोध केवल किसी का गर्व चूर करने के लिए भी किया जाता है। इसमें हानि पहुँचाने का उद्देश्य नहीं रहता। कभी–कभी क्रोध में अन्धे हम कारण को नहीं देख पाते। शुक्ल जी ऐसे क्रोध को 'अपरिष्कृत' कहते हैं। जो व्यक्ति क्रोध में आकर अपना ही सर फोड़ लेते हैं, उस क्रोध का उद्देश्य भी क्रोध–पात्र तथा अपने प्रियजनों को दुःख पहुँचाना ही रहता है। क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी–कभी मनुष्य यह भी विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है, उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। चाणक्य द्वारा कुश की जड़ में मट्ठा डालकर उन्हें निर्मूल करने का प्रयत्न ऐसे ही क्रोध का परिणाम था। इसका कारण यह है कि – "अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है तो वह अन्तःप्रकृति में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती–जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।"

''क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तृष्टि का साधक होता है। कभी यह दया के साथ कुढ़ता है, कभी घृणा के।'' किसी अबला को सताने वाले अत्याचारी पर क्रोध करके हम उस अबला पर दया दिखाते हैं। यहां क्रोध ने ही दया की रक्षा की है। अन्यथा दया का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यहाँ काम क्रोध करता है और यश दया को मिलता है। क्रोध शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है। इसी कारण धर्म, नीति और सदाचार इन मनोविकार के दमन का उपदेश देते हैं। सभ्य मनुष्य प्रायः अपने क्रोध के चिह्नों को दबाने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसा करना समाज की सुख शान्ति के लिए आवश्यक है।

''क्रोध के विरोध का उपदेश अर्थ–परायण और धर्म–परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं करता।'' कर्ज़ का रुपया वसूल करने वाला तो कभी–कभी सख्ती से काम लेने की बात कह भी देता है, मगर धर्म का ठेकेदार धोखे में भी क्रोध को पाप का जनक ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों में सिद्ध और साधकों से कम नहीं होता। पर यह स्वार्थ से लिपटा अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधना का।

"क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं, अपना दुःख और पराया दुःख।" अपने दुःख से उत्पन्न क्रोध का ही त्याग करने का उपदेश दिया जाता है। पराए दुःख के लिए किया जाने वाला क्रोध जितना ही व्यापक होगा, उतना ही सुन्दर और मनोरम होगा। और "जहाँ क्रोध की भावना जितनी निर्विशेष रहेगी, वहीं सच्ची पर दुःख–कातरता मानी जाएगी, वही क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त होगा, ऐसा सौन्दर्य जो काव्य क्षेत्र के बीच ही जगमगाता आया है।" यह क्रोध सदैव करुणा से उद्‌भूत होता है। क्रौंच–वध को देखकर बाल्मीकि के हृदय में ऐसे ही सात्विक क्रोध ा का उदय हुआ था जो एक माहाकाव्य के सौन्दर्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ। राम के क्रोध में स्म्पूर्ण लोक का दुःख समाया हुआ है। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध ा में या तो हमें तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नहीं रहता अथवा वह अपना प्रभाव खो चुकी रहती है। दुःख सहते–सहते उसकी सीमा का उल्लंघन हो जाता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर क्षमा का भाव नहीं रहता। निराशा की इसी स्थिति में क्रोध अपनी तीव्रता में सौन्दर्य का सृजन करता है।

"दण्ड–कोप का ही विधान है। राजदण्ड राजकोप है, लोककोप, और लोककोप धर्मकोप है। राजकोप वही श्रेष्ठ माना जाता है जहाँ उसका आधार धर्मकोप होता है। धर्मकोप से रहित राजकोप अपवित्र तथा कुछ व्यक्तियों का व्यक्तिगत कोप होता है।"

"वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।" मन में बहुत दिनों तक टिका रहने वाला क्रोध वैर बन जाता है। स्थायी हाने के कारण वैर में क्रोध जैसे वेग नहीं रहता परन्तु शत्रु को सदैव पीड़ित करते रहने का भाव बना रहता है। क्रोध और वैर का अन्तर केवल काल पर आधारित रहता है। गाली देने वाले को तुरन्त दण्डित करना 'क्रोध' और काफी समय पश्चात् उससे गाली का बदला निकालना 'वैर' कहलाता है। वैर की भावना अधिकतर उन्हीं व्यक्तियों में पाई जाती है जो भावों को संचित कर हृदय में पालते रहते है। पशु और बच्चों में वैर की भावना नहीं पाई जाती। वे तुरन्त क्रोध करते हैं और फिर भूल जाते हैं।

क्रोध का एक हल्का रूप चिड़चिड़ाहट है जो केवल शब्दों द्वारा ही व्यक्त होता है। इसका कारण मानसिक दुर्बलता है। वृद्धों और रोगियों में ही प्रायः यह पाई जाती है। इसमें व्यक्ति को किसी बात का बुरा लगता है। बुरा लगने वे यह क्षोभ से भर उठता है और फिर उसे आवेग का अनुभव होने लगता है। परन्तु चिड़चिड़ाहट का रूप उग्र नहीं होता। इसी कारण यह बच्चों के मनोविनोद का साधन बन जाती है। बच्चे प्रायः बूढ़ों को चिढ़ाते देखे जाते हैं और ऐसे चिढ़ने वाले अपनी मूर्खता द्वारा संसार का मनोरंजन आदिकाल से करते चले आ रहे हैं।

पूर्ण क्रोध के पूर्व की ऐसी स्थिति, जिसमें पात्र को हानि पहुँचाने की अपेक्षा दुःख के कारण और उसकी असहायता पर विशेष ध्यान रहता है, अमर्ष कहलाती है। क्रोध में व्यक्ति अपने पात्र को भी भयभीत करने या कष्ट पहुँचाने के लिए उद्यत हो जाता है, परन्तु अमर्ष में उसकी दृष्टि दुःख की बात और उससे उत्पन्न असह्य

वेदना पर ही रहती है। इससे आगे की स्थिति में क्रोध की व्यंजना होती है।

दुःख कारण ही स्पष्ट धारणा से क्रोध उत्पन्न होता है। जब तक बच्चे को दुःख और उसके कारण का बोध नहीं होता, तब तक उसमें क्रोध उत्पन्न नहीं होता। 'सामाजिक जीवन में क्रोध की ज़रूरत बराबर पड़ती है।' क्रोध से ही दुष्टों की कुवृत्तियों का सामना किया जा सकता है।

कष्ट पहुँचाने वाले उस व्यक्ति को जिससे फिर कष्ट पाने की सम्भावना न हो, जब बदले में कष्ट पहुँचाया जाता है,उसे प्रतिकार कहते हैं। इसमें स्वरक्षा की भावना नहीं होती। व्यवहारिक जीवन में अधिकतर क्रोध प्रतिकार के रूप में ही व्यक्त होता है।

क्रोध अंधा होता है। क्रोधी का लक्ष्य एकदम आलम्बन को हानि पहुँचाना होता है। बहुत बार क्रोध के वेग में मनुष्य धोखा खा जाता है। वह उचित–अनुचित का विचार करने को बिल्कुल नहीं ठहरता। क्रोध के वेग में वह अपने कार्य के परिणाम को भी नहीं देखता।

'क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि पहुँचाने से पहले आलम्बन में भय संचार करना रहता है।' यदि क्रोध–पात्र डरकर पश्चात्ताप करे, तो क्रोध क्षमा में बदल सकता है। कई बार क्रोध केवल किसी का गर्व चूर करने के लिए किया जाता है। इस रोष में अभिमान को हानि पहुँचाने की बजाय केवल झुकाना उद्देश्य रहता है।

अपने सम्बन्धियों के साथ लड़ने में कभी–कभी अपना ही सर फोड़ लिया जाता है। उसमें भी उद्देश्य क्रोध–पात्र और अपने सम्बन्धियों को ही दुःख पहुँचाना होता है।

शिल्प

शुक्ल जी के अन्य मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों के समान इस निबन्ध में भी गद्य की समास और व्यास उभय शैलियों का व्यवहार देखने को मिलता हैं।

1. समास शैली

इस शैली में किसी बात, विचार तथ्य आदि को विस्तार की अपेक्षा न्यूनतम शब्दों में संक्षेप में कहा जाता है। शुक्ल जी द्वारा गृहीत इस गद्य–शैली के निदर्शन 'क्रोध' निबन्ध में आद्योपान्त मिलते हैं, यथा –

1. क्रोध दुःख के चेतन कारण से साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।

2. जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दुहराए जाने की सम्भावाना कुछ भी नहीं है, जो कष्ट पहुँचाया जाता है, वह प्रतिकार मात्र है, उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती।

2. व्यास शैली

इस शैली में थोड़े में कही जाने वाली बात को विस्तार से खोल कर कहने की प्रवृत्ति होती है, यथा –

क्रोध करने वाला जिस ओर से दुःख आता है, उसी ओर देखता है, अपनी ओर नहीं। जिसने दुःख पहुँचाया, उसका नाश हो या उसे दुःख पहुँचे, क्रुद्ध का यही लक्ष्य होता है। न तो यह देखता है कि मैंने भी कुछ किया है, या नहीं, और न इस बात का ध्यान रहता है कि क्रोध के वेग में मैं जो कुछ करूँगा, उसका परणिाम क्या होगा। यही क्रोध का अन्धापन है।

सूक्ति परकता

अन्य निबन्धों के समान इस निबन्ध में भी अनेक वाक्य सूक्तियों के समान प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे भाषा का नुकीलापन और सूक्ष्मता बढ़ी है। यथा –

1. वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।

2. क्रोध शान्ति–भंग करने वाला मनोविकार है।

3. बहुत दूर तक और बहुत काल से पीड़ा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है।

भाषा

इन निबन्ध की भाषा संस्कृत तत्सम शब्दावली से गुम्फित होने पर भी गौण रूप में तद्भव शब्द लिए हुए हैं –

1. संस्कृत तत्सम शब्द – दुःख, चेतन, कारण, सम्बन्ध, परिज्ञान, विवेक, दया, परिमित, हृदय, सृष्टि, विधान, सम्भावना, कष्ट, प्रतिकार, मनुष्य, शुद्ध, कल्याण, व्यापक, संचार, व्याकुल भावना, क्रुद्ध, अनर्थ, रक्षा, प्रबन्ध, हानि, पीड़ा, इत्यादि।

2. तद्भव शब्द : 'बीस' (सं. विंशतिः) 'पच्चीस' (सं. पंचविंशतिः) 'बार' (सं. बार), 'पूरा' (सं.पूर्ण), 'चट' (सं. झटिति), छात्र (सं. छात्रः)

उर्दू–फ़ारसी शब्द : 'तपांच' (संज्ञा पुलिंग शब्द) > 'तमाचा' उर्दू शब्द

समग्र रूप में यहाँ शुक्ल जी का निबन्ध–शिल्प भाषा–शैली, वाक्य–योजना, मुहावरों, कहावतों सूक्तियों, जीवनानुभवों से सम्बन्धित उदाहरणों की सरल अभिव्यक्ति आदि से अत्यन्त सुगठित और सशक्त बन पड़ा है।

1.5.4 सप्रसंग व्याख्या

1. "क्रोध की उग्र चेष्टाओं ..... नौबत नहीं आती।"

प्रसंग : यह निबन्ध हिन्दी के मूर्धन्य निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध–संकलन 'चिन्तामणि' भाग प्रथम के निबन्ध 'क्रोध' से चुना गया है।

1. "क्रोध सब मनोविकारों.....कभी घृणा के।"

व्याख्या : जब किसी व्यक्ति को क्रोध आता है तो उसका मुँह लाल हो जाता है, भौंहे चढ़ जाती हैं, नाक फड़फड़ाने लगती है, मुखमुद्रा विकृत हो जाती है। यही क्रोधी की उग्र चेष्टाएँ कहलाती हैं। अपनी इन चेष्टाओं द्वारा वह अपने क्रोध पात्र को पीड़ा या हानि न पहुँचा कर उसे केवल भयभीत करना चाहता है। और उसके

इस रूप को देखकर यदि क्रोध–पात्र भयभीत होकर नम्र पड़ जाता है और अपनी हरकतों के लिए पश्चात्ताप करने लगता है तो उस समय क्रोध को अपनी क्षमा–भावना को प्रदर्शित करने का अवसर मिल जाता है। जब क्रोधी क्रोध में भर कर खूब ज़ोर से बोलने लगता है, मारने की–सी चेष्टायें करने लगता है तो क्रोध–पात्र को अपने भावी संकट की सूचना मिल जाती है और वह विनम्र बन जाता है। क्रोध का उद्देश्य भी उसे विनम्र बना देने का रहता है। इस प्रकार उसका उद्देश्य बिना आगे क्रोध का सक्रिय रूप दिखाये ही सिद्ध हो जाता है और क्रोधी और क्रोध–पात्र दोनों ही क्रोध के भावी दुष्परिणाम से बच जाते हैं । क्योंकि क्रोध का सक्रिय रूप मारपीट में प्रकट होता है जिससे क्रोध–पात्र को पीड़ा पहुँचाती और क्रोधी महाशय को सम्भवतः जेल की हवा खानी पड़ती है या शन्ति भंग करने के अपराध में जुर्माना देना पड़ता है।

2. "क्रोध सब मनोविकारों..... कभी घृणा के।"

व्याख्या : जितनी तीव्रता क्रोध में दिखाई पड़ती है, उतनी अन्य किसी भी मनोविकार में नहीं। क्रोध अवसर पड़ने पर अन्य मनोविकारों का भी साथ देता है और इस प्रकार अन्य भावों को भी क्रोध की सहायता से सन्तोष मिल जाता है। क्रोध कभी दया की भावना के साथ उदय होता है, कभी घृणा के साथ। उदाहरणार्थ, कोई अत्याचारी किसी अबला पर अत्याचार कर रहा है। अबला को सताया जाते देखकर हमारे मन में उसके प्रति दया की भावना उत्पन्न होती है। परन्तु अकेली दया से ही तो उस अत्याचारी को नहीं रोका जा सकता, उसे रोकने के लिए क्रोध करना ही पड़ेगा। इस प्रकार यहाँ मूल भावना तो दया की ही रही और क्रोध उसका सहायक बनकर आया। परन्तु सारा श्रेय दया को ही मिला। सब यही कहेंगे कि हमने दया करके उस अबला को बचा लिया, यह नहीं कि क्रोध करके बचाया। यदि हमने क्रोध न किया होता तो हमारी दया व्यर्थ जाती। यहाँ काम क्रोध करता है, पर यश दया को मिलता है। घृणा में भी यही स्थिति रहती है।

3. "क्रोध के विरोध.....न साधन।"

व्याख्या : 'क्रोध को रोकने का उपदेश अर्थ–परायण अर्थात् व्यापारी, साहूकार आदि तथा धर्म–परायण अर्थात् पंडे–पुजारी, महन्त, धर्मोपदेशक आदि सभी देते हैं और क्रोध को पाप का जनक घोषित करते हैं उपदेश देने वाले इन दोनों वर्गों में से, क्रोध के विषय में धर्मपरायण व्यक्तियों को सबसे अधिक सावधान रहना चाहिए क्योंकि उनका क्षेत्र व्यापारी आदि के क्षेत्र से अधिक विस्तृत होता है। परन्तु देखा यह जाता है कि धर्म के ये ठेकेदार ही क्रोध के विषय में सबसे अधिक असावधान रहते हैं, अर्थात् इन्हें ही सबसे अधिक क्रोध आता है। अर्थ–परायण अर्थात् व्यापारी, साहूकार आदि तो अपना कर्ज़ वसूल करने में कभी–कभी कड़ाई से भी काम लेने के सिद्धान्त में क्रियात्मक विश्वास रखते हैं। परन्तु पाखण्ड और ढोंग के साथ धर्म की ठेकेदारी अपने हाथ में लेकर चलने वाले ये धर्म–परायण कभी भूलकर भी क्रोध करने की सलाह नहीं देते, परन्तु स्वयं सबसे पहले क्रुद्ध हो उठते हैं। महन्तों,

पण्डितों आदि का ज़रा–सी बात पर क्रोध होकर गाली बकना और शाप दे बैठना आदत बन गई है।

ठग और स्वार्थी व्यक्ति भी अपने क्रोध को रोकने का अभ्यास उतनी ही कठिन साधना के साथ करते हैं, जितना कि सिद्ध और साधक। ठगों और स्वार्थियों का जिससे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध होता होगा या जिसे उन्हे ठगना होगा, तो वे उसकी कठोर से कठोर बातों को भी सहन कर लेंगे, ज़रा भी क्रोध नहीं करेंगे। परन्तु ऐसे लोगों के क्रोध न करना स्वार्थ–सिद्धि का साधन होता है। उनका यह अक्रोध न तो धर्म की उच्च भूमि का सात्विक अक्रोध होता है और न इससे समाज का ही कोई कल्याण होता है। यह मक्कारों का ही अक्रोध कहलायेगा जिसकी कोई सामाजिक उपयोगिता न होकर केवल व्यक्तिगत उपयोगिता ही होती है।

4. "क्रौच के वध..... खो चुकी रहती है।"

व्याख्या : क्रोध जहाँ अपने सम्बन्धों से लिपटा रहता है वहाँ उसके पूर्ण सौन्दर्य का प्रस्फुटन नहीं हो पाता। क्रोध अपने सर्वाधिक सुन्दर एवं पवित्र रूप में नहीं सामने आता है जहाँ क्रोधी के मन में जगत्–व्यापी करुणा की भावना का प्रसार रहता है। करुणा के साथ उत्पन्न होने वाला क्रोध ही अपनी व्यापकता एवं उपयोगिता के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। और जब ऐसा क्रोध प्रकट होता है तो उससे एक अतुलनीय सौन्दर्य की सृष्टि होती है। महर्षि वाल्मिकि ने प्रणय–रत क्रौंच युगल में से वधिक द्वारा एक की हत्या होते देखी और फिर क्रौंची का करुण–विलाप सुना। उस करुण–विलाप को सुनकर मर्हिष का हृदय करुणा से विचलित हो उठा और अत्याचारी के प्रति उनके हृदय में सात्विक क्रोध का विस्फोट हुआ। करुणा से आद्भूत यह सात्विक क्रोध संसार के सम्मुख एक महाकाव्य के अमित सौन्दर्य से सज्जित होकर प्रकट हुआ। इस सौन्दर्य के उत्पन्न होने का कारण यह था कि महर्षि का हृदय यहाँ अपने किसी स्वार्थ सम्बन्ध के कारण द्रवित न होकर, प्राणिमात्र की कल्याण–भावना से द्रवति हुआ था। यही उसकी निर्विशेषता थी। यहाँ उनके क्रोध में प्रणिमात्र के प्रति सहानुभूति छिपी हुई थी और उनकी उक्त सहानुभूति महाकाव्य में राम के उस सात्विक क्रोध के रूप में व्यक्त हुई जो सर्वत्र अधर्मचारियों का ध्वंस और धर्मात्माओं का पालन करने में सदैव तत्पर रहती है। इस प्रकार राम के क्रोध से रूप में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सम्पूर्ण लोक का क्षोभ प्रकट होता है।

साधारणतः जब क्रोध का कारण उपस्थित होने पर अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता तो क्रोधी उसे क्षमा कर देता हैं। परन्तु जहाँ अपराधी भय दिखाने पर भी

बराबर अपराध करता रहता है, वहाँ क्षमा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, वहाँ क्षमा अपना मूल्य खो बैठती है। ऐसी स्थिति आ जाने पर जो क्रोध उत्पन्न होता है, वही सुन्दर माना गया है। शिशुपाल कृष्ण का बार–बार अपमान किया करता था। कृष्ण ने उससे कहा था कि वह उसकी सौ गालियाँ तक तो सहन कर लेंगे परन्तु इस संख्या को पार करते ही उसे दण्ड दिया जायेगा। कृष्ण जब तक उसे क्षमा करते रहे, तब तक तो उनकी क्षमा सुन्दर लगती रही। परन्तु जब शिशुपाल सीमा का अतिक्रमण करने लगा तो कृष्ण की उस क्षमा का सौन्दर्य नष्ट हो गया और वहाँ से उनके हृदय में उचित क्रोध का प्रादुर्भाव होना आरम्भ हो गया और उन्होंने शिशुपाल का वध कर दिया। शुक्ल जी कृष्ण के इस क्रोध तक ही सीमित थे, इसलिए इसे क्रोध का सुन्दर रूप नहीं मानते, क्योंकि उसमें निर्विशेषता न होकर व्यक्ति–विशेष सम्बन्धित था। अतः अपने ही दुःख पर उत्पन्न क्रोध को सुन्दर नहीं माना जा सकता, भले ही उसकी उपयोगिता स्वीकार कर ली जाए। क्रोध जब दूसरे के दुःख को देखकर उत्पन्न होता है तो या तो हमें तुरन्त क्षमा करने का अवसर या अधिकार नहीं मिलता या यदि हम उस समय क्षमा का उपयोग करते हैं तो क्षमा अपना सात्विक प्रभाव खो बैठती है। अबला को सताने वाले अत्याचारी को क्षमा न कर, दण्ड देना ही उपयुक्त है।

5. "वैर क्रोध का अचार.....कहलाता है।"

व्याख्या : किसी भी वस्तु का आचार या मुरब्बा बनाने में काफी समय लगता है। आचार या मुरब्बा उस वस्तु के धीरे–धीरे पकने पर ही बनता है। क्रोध जब तुरन्त व्यक्त न होकर हृदय में धीरे–धीरे पकता रहता है तो वैर बन जाता है। हमें दुःख देने वाले पर यदि हमने क्रोध किया परन्तु उसे तुरन्त ही प्रकट न होने दिया और बहुत दिनों तक हम उस क्रोध को अपने मन में पालते रहे तो वह वैर का रूप धारण कर लेता है। इसलिए वैरी सदैव सावधान रहना चाहिए।

1.5.4.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. 'क्रोध' निबन्ध का सार अपने शब्दों में दें।

.....

.....

.....

1.5.5 सारांश :

हमारे सामाजिक जीवन में क्रोध की बराबर जरूरत पड़ती है। मन में यदि क्रोध न उत्पन्न हो तो मनुष्य अपने दुःख के कारणों को दूर नहीं करेगा और दुष्ट उसे सदैव सताते रहेंगे। क्रोध करने में लोक–कल्याण की भावना भी रहती हैं, परन्तु कभी–कभी ही।

1.5.6 प्रश्नावली :

1. 'क्रोध' निबन्ध का सार संक्षेप में लिखें।
2. कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से 'क्रोध' निबन्ध का विश्लेषण करें।
3. सुख–शान्ति के लिए क्रोध का निवारण आवश्यक है। स्पष्ट करें।

1.5.7 सहायक पुस्तकें :

1. रामविलास शर्मा – रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना

पाठ संख्या : 1.6

'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' निबन्ध का सार

इकाई की रूपरेखा :

1.6.0 उद्देश्य
1.6.1 प्रस्तावना
1.6.2 साधारणीकरण और व्यक्ति–वैचित्रयवाद' निबन्ध का सार
1.6.3 'साधारणीकरण और व्यक्ति–वैचित्रयवाद' निबन्ध का कथ्य और शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण
1.6.4 सप्रसंग व्याख्या
1.6.4.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.6.5 सारांश
1.6.6 प्रश्नावली
1.6.7 अभ्यास पुस्तकें

1.6.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय में निम्नलिखित दृष्टि बिन्दुओं पर चर्चा की गई है :–

– 'साधारणीकरण और व्यक्ति–वैचित्रयवाद' निबन्ध को संक्षिप्त शब्दों में सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

– इस निबन्ध के कथ्य और शिल्प पर भी चर्चा की गई है।

– प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या विद्यार्थियों के लिए उदाहरण स्वरूप की गई है।

1.6.1 प्रस्तावना :

आचार्य शुक्ल के निबन्ध अब तक तीन पुस्तकों में प्रकाशित हैं। उन्होंने उन्हें चिन्तामणि कहा है। इस नाम की दो पुस्तकें उनकी मृत्यु के पश्चात् विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और नामवर सिंह के संपादन में छपीं, पर शीर्षक उन्हीं का दिया गया है। इसके अलावा उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', कविताएँ, कहानियाँ, आलोचनाएँ लिखीं और शब्दकोश तैयार किया, लेकिन उन्होंने सबमें शीर्ष स्थान निबंधों को दिया।

1.6.2 साधारणीकरण और व्यक्ति–वैचित्रयवाद' निबन्ध का सार

1. सबके भावों के विषय का ही साधाणीकरण संभव :

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुनने वाले सहस्त्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव को कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबसे उसी भाव का अवलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोक–हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक–हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस–दशा है।

2. भाव और विभाव दोनों पक्षों के समन्वय से ही रस की अनुभूति

किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है, पर उसी स्त्री के वर्णन द्वारा श्रृंगार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। अतः ऐसा काव्य केवल भाव–प्रदर्शक ही होगा, विभाग विधायक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य–मात्र में क्रोध का पात्र हो सके, तब तक वह वर्णन भाव–प्रदर्शक मात्र रहेगा, उसका विभाग–पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती । केवल भाव–प्रदर्शक काव्यों में भी होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप किए रहता है।

3. जाति की अपेक्षा विरोध और व्यक्ति ही काव्य का विषय

काव्य का विषय सदा 'विशेष होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला–समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूप–गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत–सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है, निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।

4. कल्पना में जाति की अपेक्षा व्यक्ति का ही बिम्ब

इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य–कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब (चित्र) ग्रहण

कराने का प्रयत्न करती है, अर्थ ग्रहण–मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिम्ब–ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे, यदि कहा जाए कि क्रोध में मनुष्य बाबला हो जाता है, तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्नतम चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा, वह व्यक्ति या वस्तु–विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त भावना हो ही नहीं सकती।

5. कवि द्वारा कल्पित भावों, व्यक्तियों का ही साधारणीकरण

'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति–विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव को आवलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में यह व्यक्ति विशेष उपस्थित रहता है। हाँ, कभी–कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति–विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है, तो श्रृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह–रह कर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी, व्यक्ति की ही होगी।

6. आलम्बनत्व धर्म का ही साधाणीकरण

कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसे साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं – इसका तात्पर्य यही है कि रस मग्न पाठकों के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना हृदय अलग नहीं रहता।

7. अपवाद रूप में रस की एक नीची अवस्था

रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का – श्रद्धा, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है –

अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है, यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और इसके आलम्बन का साधारणीकारण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र आदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानूभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील–द्रष्टा या प्रकृति–द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा, पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि का ही मानेंगे।

8. सहृदय द्वारा प्रकृति को आलम्बन बनाना

जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ–न–कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायःहो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे हिमालय, विंध्यारवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है, वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।

9. अन्य पात्रों द्वारा दुष्ट पात्रों का प्रतिकार

जब कोई असमान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता, तब पाठक के मन में बार–बार यही आता है कि उस दृश्य के प्रति उसके मन में जो घृणा या क्रोध है, उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते हैं, उससे कथा श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।

10. आश्रय के शील–सौन्दर्य की भावना

उदात्त वृत्ति वाले आश्रय की भाव–व्यंजना में भी यह होगा कि किस समय तक पाठक या श्रोता तादात्मय की दशा में पूर्ण रसमग्न रहेगा, उस समय तक भाव–व्यंजन करने वाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न होगा। उस दशा के आगे–पीछे ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील–सौन्दर्य की भावना कर सकेगा। भाव–वयंजना करने वाले किसी पात्र या आश्रय के शील–सौन्दर्य की भावना जिस समय रहेगी। उस समय श्रोता या पाठक का आलम्बन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

11. यूरोपीय साहित्य में शील वैचित्र्य के तीन प्रकार के प्रभाव

1. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन : शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भारत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठना, राजा हरिश्चन्द्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना माँस खाने के लिए अनुरोध करना इत्यादि शील–वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य–मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शील वाले पात्रों का शील विचित्र होने पर भी भाव–व्यंजना के समय उनके साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

2. आश्चर्यपूर्ण अवसादन :

शील के अत्यन्त पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में हूण सम्राट् मिहिरकुल पहाड़ की चोटी पर से गिराये जाते हुए मनुष्य के तड़फने, चिल्लाने आदि की भिन्न–भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न–भिन्न ढंग से आह्लादी की व्यंजना करे, तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दुःखीलता की और–और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्य–मिश्रित विरक्ति घृणा आदि जागेगी।

3. मात्र–कुतूहल या मनोरंजन : कुछ लोगों के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है, जो किसी वर्ग–विशेष की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन, एक प्रकार का मनोरंजन या कौतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डंटन (Theodore Watts - Danton) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute Vision) का सूचक और काव्य–कला का चरम उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि नाटककार भिन्न–भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते, तो कैसे वचन मुँह से निकालते।

12. सहृदयों से साधारणीकरण

डंटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति जो ठहराया, पर उन्हें संसार भर में दो या तीन कवि उक्त दृष्टि से सम्पन्न मिले, जिनमें मुख्य शेक्सपियर हैं पर शेक्सपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अंतःप्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं, जिन की भाव–व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्मय रहता है। 'जूलियस सीज़र' नाटक में अंटोनियो के लम्बे भाषण से जो क्षोभ उमड़ पड़ना है उसमें किसका हृदय योग न देगा ? डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र–चित्रण है। पर विचारपूर्वक

देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त सा हो गया है। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का समंजस्य उसकी बुद्धि की अवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग–विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है।

13. ऊपरी मनोविनोद के लिए नई कल्पना

हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा। 'नूतन सृष्टि निर्माण वाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है, उसी प्रकार भारतवर्ष में भी, पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में, कवि और कवि कर्म की स्तुति का रूप में ही गुहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धान्त या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत्ता यह एक सूत्र–सा बनकर काव्य–समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि रचनाएँ इस ढंग की भी हो चलीं, जिनमें कवि ऐसे अनुभूतियों की व्यंजना की नकल करता है जो न वास्तव में उनकी होती हैं और न किसी की हो सकती है।

14. पुनरुत्थान काल से 'व्यक्तिवाद' का आरंभ

यह उस प्रवृत्ति का हद से बाहर पहुँचा रूप है, जिसका आरम्भ योरप में एक प्रकार से पुनरुत्थान–काल (Renaissance) के साथ ही हुआ था। रचना करने वाले यह ध्यान रखकर नहीं लिखते थे कि इस काल के आगे आने वाले काल कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नहीं है, किसी जन–समूह के बीच पूर्ण सभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम, किसी जन–समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हें इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यक्ता नहीं होती थी कि लोक भिन्न–भिन्न व्यक्तियों से बना होता है जो भिन्न–भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान–काल' से धीरे–धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढ़ता गया, प्राचीनों की भूल प्रकट होती गई। अन्त में इशारे पर आँख मूँदकर दौड़ने वाले बड़े–बड़े पण्डितों ने पुनरुत्थान की कालधारा को मथकर 'व्यक्तिवाद' रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित समाज में व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने–दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

15. साधारणीकरण में लोक हृदय की सामान्य अन्तर्भूमि

काव्य क्षेत्र में किसी 'वाद' या प्रचार धीरे–धीरे उसकी सारसत्ता को ही चुन जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता लिखकर 'वाद' लिखने लगते है। । कला या काव्य के क्षेत्र में, 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत–सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं, वहाँ कुछ अभिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे

मनुष्य की आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति–भावना भी बँधती है, जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ हैं, जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। वे अन्तर्भूमियाँ नर–समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक हृदय की यह सामान्य अन्तर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है।

16. व्यक्तिवाद का विकृत रूप

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर वर्णन हुआ है, उसने स्वच्छन्दता के आन्दोलन (Romantic Movement) के उत्तर काल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाए, तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैंकड़ों, हज़ारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं, तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा ? ऐसी अवस्था में तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाए, व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कोतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाए।

17. भेदमूलक और समानतामूलक दृष्टि

भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न–भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' उद्‌घाटन की ओर बराबर नहीं है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरोपीय काव्य दृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल–विशेष के विधान की ओर रही है। हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों में अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे–सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

18. व्यक्ति वैचित्र्यवाद में भावपक्ष की उपेक्षा

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा–क्षेत्र में, इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। पश्चिम में 'कल्पना' – 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे–धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोध पक्ष पर ही भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हल्के आनन्द के रूप में ही मानी जाने लगी, जिस आनन्द के लिए हम नई–नई सुन्दर भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखाने वाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनन्द कुछ विलक्षण को देखने का कोतूहल मात्र होता है।

इटली–निवासी क्रोंचे (Banedetto Croce) ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध–स्वरूप ही माना है। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति या विधायक अवयव नहीं माना है।

19. नवीनता और मौलिकता बनाम सच्ची कविता

हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना के नाम पर आजकल तो अद्‌भूत और रमणीय शब्द योजना—मात्र कभी—कभी देखने में आया करती है, वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप में साहित्य सम्बन्धी आन्दोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। आन्दोलन दस—बारह वर्ष से ज़्यादा नहीं चलता। ऐसे आन्दोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर कार्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता—मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रंग—ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आन्दोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी—चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है ?

निष्कर्ष : योरोप में इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्तिवाद' इत्यादि जो अनेक 'बाद' चले थे, वे अब वहाँ मरे हुए आन्दोलन समझे जाते हैं। इन नाना 'वादों' से ऊबकर लोग अब फिर साफ हवा में आना चाहते हैं। किसी कविता के सम्बन्ध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब फ़ैशन के खिलाफ जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते।

1.6.3 'साधारणीकरण और व्यक्ति—वैचित्र्यवाद' निबन्ध का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण

कथ्य

साधारण शब्दों में साधारणीकरण का अर्थ है कि काव्य—भावना द्वारा श्रोता या पाठक का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना। दूसरे शब्दों में एक काव्य को जितने भी श्रोता या पाठक सुनते या पढ़ते हैं उन सभी में उसके सुनने अथवा पढ़ने से एक ही प्रकार की भावक्रिया होगी, एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न होंगे। यही रसात्मक अनुभूति कराने वाले काव्य की पहचान है। काव्य श्रवण या पाठक से विभिन्न श्रोताओं तथा पाठकों में विभिन्न भाव उत्पन्न नहीं होगे बल्कि एक ही प्रकार के होंगे, यह 'मनुष्य' मात्र को प्रभावित करते हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोध की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। इस प्रकार उत्कृष्ट काव्य तथा कवि वही है जो लोक हृदय को प्रभावित न कर सके। अब जो साधारणीकरण के सम्बन्ध में समस्या आती है वह हमारा हृदय कवि आश्रय आलम्बन में से किसके साथ साधारणीकरण करता है। शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण आलम्बन के साथ होता है।

शुक्ल जी की विचारधारा भारतीय आचार्य साधारणीकरण के आविष्कार भट्टनायक से प्रभावित प्रतीत होती है। भट्टनायक साधारणीकरण होने की प्रक्रिया में तीन

शक्तियों का व्यापार मानते हैं – अभिद्या, भावकत्व और भोजकत्व। इसके अनुसार पाठक अथवा श्रोता काव्य के अभिधाय को ग्रहण कर लेता है, भावकत्व शक्ति से उसमें सत्य की प्रधानता होकर अपने पराये का भाव दूर होता है और भोजकत्व शक्ति द्वारा रसास्वादन करता है। इनमें प्रमुख क्रिया भावकत्व तथा भोजकत्व की है। भावकत्व शक्ति से विशोष आलम्बन अपनी विशिष्टता त्यागकर सामान्य हो जाता है। कवि का कर्त्तव्य तथा सफलता इसी में है कि यह लोक हृदय को पहचानकर आलम्बन को इस रूप में प्रस्तुत करे कि सामान्य हृदय उससे प्रभावित हो जाए। आचार्य शुक्ल जी ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए शृंगार रस तथा रौद्र रस के उदाहरण दिए हैं। काव्य में कुरूप अथवा दुःशील स्त्री से किसी पात्र का प्रेम दिखाना केवल भाव प्रदर्शन मात्र है। वह विभाग विधायक नहीं हो सकता अर्थात् सामान्य लोक हृदय में शृंगार भावना उत्पन्न नहीं होगी। इस प्रकार रौद्र रस में आलम्बन का चित्रण ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र बन सके। इस प्रकार रसानुभूति के लिए भाव तथा विभाव दोनों पक्षों का पूर्ण सामंजस्य अत्यन्त आवश्यक है। भाव प्रदर्शन काव्यों में प्रत्येक दर्शक या पाठक अपने भावों के अनुसार आलम्बन का आरोप किए रहते हैं। यह समानन्यजन का आलम्बन नहीं होता।

शुक्ल जी कहते हैं कि काव्य को कल्पना द्वारा बिम्ब ग्रहण कराना चाहिए अर्थ ग्रहण नहीं। यह उसी दशा में सम्भव है कि जब बिम्ब सामान्य या जाति का न होकर व्यक्ति अथवा विशिष्ट वस्तु का हो। सामान्य अथवा जाति को तो मूर्त्त रूप में उपस्थित कर ही नहीं सकते। शुक्ल जी उदाहरण देते हैं, 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है' सामान्य बात है काव्य नहीं, काव्य तो क्रोधित मनुष्य का कल्पना द्वारा मूर्त्त रूप उपस्थित कर देगा। काव्य कल्पना द्वारा जो कुछ उपस्थित करेगा वह व्यक्ति या विशेष होगा।

विभाजन व्यापार में जो साधारणीकरण की विचारधारा है वह उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि विभावादि सामन्य रूप में ही प्रतीत होते हैं। वह भेद–भाव, अपने पराए का भाव नष्ट करके एक सामान्य भाव प्रस्तुत करते हैं जो सबको प्रभावित करता है। परन्तु समान्य का अर्थ यह नहीं कि रसानुभूति के अवसर पर आलम्बन विशेष के रूप में न आकर सामान्य रूप में आता है। साधारणीकरण का भी यही अर्थ है कि काव्य में वर्णित वस्तु विशेष की समान धर्मी अन्य मूर्ति विशेष पाठक के हृदय में आ जाता है। शृंगार की उक्तियाँ सुनने पर श्रोता के मन में उससे सम्बन्धित सुन्दरी का चित्र मन में आ जाए अथवा अन्य कल्पित मूर्ति आ जाए परन्तु वह होगी विशेष ही। किन्तु वह कवि व्यंजित भाव को ही पाठक या श्रोता के मन में जागृत करेगी। आचार्य जी लिखते हैं, "इससे सिद्ध हुआ कि साध ाारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।" जिस व्यक्ति को आलम्बन रूप में प्रस्तुत किया जाएगा उसमें ऐसे सामान्य धर्म को रखा जाएगा कि वह मनुष्य मात्र सभी के भावों से तादात्मय स्थापित कर लेगा।' श्रोता या पाठक का हृदय लोक–हृदय हो

जाएगा। दर्शक, श्रोता अथवा पाठक का अपना हृदय अलग नहीं रहता, उसकी भिन्नता, विशिष्टता नहीं रहती। राम के चरित्र का श्रवण तथा पठन करने पर किसी अपवाद को छोड़कर सामान्य जन के हृदय में श्रद्धा तथा आदर की भावना उत्पन्न हो जायेगी। ऐसे रावण के चरित्र के सामने आते है घृणा का भाव उत्पन्न हो जाएगा। यह भावनाएँ मानव मात्र के मन में आएंगी। इस प्रकार श्रोता या पाठक की अपनी विशिष्ट अनुभूति तथा अपना भिन्न हृदय नहीं रह जाता।

भारतीय काव्य शास्त्र में जिन पुराने आचार्यों ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है, उन्हें श्रोता अथवा दर्शक तथा आलम्बन के आश्रय इन दोनों के तादात्मय की अवस्था पर विचार किया है। जैसे भी भाव आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदय में उठेंगी उसी प्रकार के व्यंजना दर्शक अथवा श्रोता के हृदय में भी होगी और उसी प्रकार के भाव का रसास्वादन करेगा। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी रस की एक अन्य नीची अवस्था और बताते हैं जिसका पूर्ववर्ती आचार्यों ने कोई विवेचन अपने साहित्य ग्रन्थों में नहीं किया है। शुक्ल जी अपना विचार प्रस्तुत करते हैं कि आश्रय अर्थात् जो किसी भार की व्यंजना करता है, कोई क्रिया या व्यापार करता है तो शील की दृष्टि से उस पात्र के सम्बन्ध में भी श्रोता या दर्शक के हृदय में किसी भी भाव – श्रद्धा, भक्ति, रोष, आश्चर्य, कौतूहल या अनुराग – का आलम्बन होता है। शुक्ल जी का विचार है कि नाटक या काव्य का आश्रय श्रोता या पाठक का आलम्बन बन जाता है और वह श्रोता या पाठक का आश्रय हो जाते हैं। ऐसी दशा में नाटक के आश्रय तथा श्रोता या दर्शक के हृदय भावों में अन्तर हो जाता है। आश्रय का तथा दर्शक या श्रोता का हृदय एक नहीं रहता। इस प्रकार की रस दशा में आश्रय के साथ तादात्मय तथा उनके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता। आचार्य शुक्ल उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई क्रोध, अत्याचारी प्रकृति का पात्र किसी सरल, निरपराध, दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के हृदय में वैसा ही क्रोध का भाव उत्पन्न न होकर उस क्रोधी पात्र के प्रति अश्रद्धा तथा घृणा का भाव उत्पन्न होगा। यहाँ पर पाठक आश्रय से तादात्मय नहीं कर सकेगा, जो रसात्मक अनुभूति उसे होगी, वह भी मध्यम कोटि की ही होगी।

जब किसी काव्य या नाटक में भाव व्यंजना करने वाला पात्र या आश्रय के शील–द्रष्टा रूप में पाठक होगा तो भी वहाँ उस स्थिति में पाठक के मन में कोई भाव जागृत रहता है। केवल अन्तर यही होता है कि वहाँ उस पात्र आश्रय का आलम्बन पाठक का आलम्बन नहीं होगा, बल्कि वह पात्र (आश्रय) ही दर्शक या पाठक का आलम्बन होगा। यहाँ पर तादात्मय अथवा साधारणीकरण कवि के उस भाव के साथ होगा जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप निर्माण करता है। यह कल्पित स्वरूप कवि के किसी न किसी भाव का आलम्बन होता है। इस प्रकार वह पात्र कवि की ही भाँति पाठक या दर्शक के उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है जब कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्रण करता है तो वहाँ कवि स्वयं ही आश्रय होता है और कवि के भाव के साथ ही पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता

है और उसी का आलम्बन श्रोता, दर्शक या पाठक का आलम्बन होगा।

कभी–कभी काव्य या नाटक में ऐसा होता है कि आश्रय की भाव व्यंजना को दर्शक या पाठक का हृदय अपनाने में असमर्थ होता है तथा शील वैचित्र्य के कारण उत्पन्न घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य आदि में से कोई–न–कोई भार पाठक के हृदय में उत्पन्न होकर 'अपरितुष्ट' दशा में रह जाता है। ऐसी स्थिति में दर्शक या पाठक की परितुष्टि तभी संभव है जब उपर्युक्त पात्र की भाव व्यंजना का विरोध ा करने वाला अन्य पात्र प्रस्तुत किया जाए। ऐसी अपरितुष्टि की स्थिति साध ाारणतया उपन्यास, प्रबन्ध काव्य या नाटक में होती है। जब कोई दुष्ट पात्र अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तो दर्शक या पाठक के हृदय में निरन्तर रूप से यही इच्छा उत्पन्न होती रहती है कि उसके (पाठक) हृदय में दुष्ट पात्र के प्रति जो घृणा या क्रोध का भाव है उसकी पूर्ण व्यंजना अन्य पात्र आकर वाणी अथवा क्रिया द्वारा करे और इसी से उसकी तुष्टि होती है। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण को जब लक्ष्मण तथा अंगद प्रत्युत्तर देते हैं तो पाठक एक तुष्टि अपने हृदय में अनुभव करता है अन्यथा आकुलता बनी रहती है।

आचार्य शुक्ल रस की दो कोटियाँ मानते हैं। एक तो शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति। इसमें श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता को रखे रखता है। यहाँ रस का पूर्ण परिपाक नहीं रहता। दूसरी आश्रय के साथ तादात्मय दशा अनुभूति यहाँ श्रोता, पाठक कुछ समय के लिए अपनी पृथक् सत्ता को त्याग कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है, इसे आचार्यों ने रस कहा है। उदात्त वृत्ति वाले आश्रय की भाव व्यंजना में पाठक या श्रोता का तादात्मय हो जाता है। वह अपनी पृथक् सत्ता नहीं रख सकता और पूर्ण रसमग्न रहेगा। इस पूर्ण रसमग्न दशा के पहले या बाद में ही पाठक या श्रोता का अपने से अलग रखकर उसके शील सौन्दर्य की अनुभूति कर सकेगा और इस स्थिति में वही (आश्रय) श्रोता या पाठक का आलम्बन रहेगा और उसके प्रति पाठक के हृदय–भाव टिके रहेंगे।

व्यक्ति–वैचित्र्यवाद

भारतीय आचार्यों ने श्रव्य तथा दृश्य दोनों काव्यों में रस की प्रधानता रखी अैर इसी कारण काव्य में कवि का लक्ष्य तादात्मय तथा साधारणीकरण की ओर रहता है। परन्तु पश्चिम में ऐसा नहीं है। योरोप में दृश्य काव्यों में शील वैचित्र्य तथा अंतः प्रकृति वैचित्र्य की ओर ही कवि का ध्यान अधिक रहता है जो कि दर्शक को आश्चर्य या कौतूहल मात्र की अनुभूति कराता है। इस प्रकार जहाँ भारतीय दृश्य काव्य में रस की प्रधानता होती है वहाँ पाश्चात्य में कौतूहल मात्र पर ही ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार पात्रों में वैचित्र्य के साक्षात्कार के कारण तीन बातें हो सकती हैं।

1. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन
2. आश्चर्यपूर्ण अवसाद

3. कौतूहल मात्र

प्रथम प्रकार के वैचित्र्य का साक्षात्कार शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्विक आलोक से होता है। उदाहरणस्वरूप भरत का राम पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठ जाना, राजा हरिश्चन्द्र का अपनी रानी शैव्या से कफन माँगना, इस प्रकार के शील वैचित्र्य के दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्यमिश्रित श्रद्धा तथा भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के शील वाले पात्रों के साथ श्रोता या दर्शक उनकी भाव व्यंजना को ग्रहण करके तादात्म्य स्थापित कर लेता है। दूसरे प्रकार का वैचित्र्य, आश्चर्यपूर्ण अवसादन है। यह शील के अत्यन्त पतन तथा घोर तामसिक वृत्तियों का साक्षात्कार होने पर होता है जब कोई प्रबल अत्याचारी किसी दीन व्यक्ति को कष्ट देकर आन्नद प्राप्त करता है जैसे हूण सम्राट् मिहिरगुल मनुष्यों को पहाड़ों से गिरवाकर उनके तड़पने की चेष्टाओं से आनन्दित हो तो इस प्रकार के आन्नद के साथ किसी श्रोता या दर्शक का तादात्मय नहीं होगा। इस प्रकार की दुःशीलता के प्रति श्रोता या दर्शक का तादात्मय नहीं होगा। इस प्रकार की दुःशीलता के प्रति श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य मिश्रित विरक्ति तथा घृणा उत्पन्न होगी। उपर्युक्त जिन सात्विक तथा तामसी वृत्तियों की चरम सीमा का उल्लेख हुआ है वे केवल वर्ग विशेष की सामान्य प्रकृति के अन्दर होती है। परन्तु कुछ लोगों के विचारनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जोकि किसी वर्ग विशेष की भी प्रकृति के अन्तर्गत नहीं होगी। इस प्रकार की प्रवृत्ति में न तो प्रसादन का न अवसाद का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार होता है, केवल एक कौतूहल एक प्रकार का मनोरंजन ही अनुभव होता है। इस प्रकार प्रकृति के चित्रण को डंटन (Theodore Walts Dunton) कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि का सूचक और काव्य कला का चरम उत्कर्ष मानते हैं डंटन कहते हैं कि सामान्य रूप से कवि या नाटककार भिन्न–भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने को उन पात्रों की स्थिति में अनुमान करके करते हैं। कवि अपने को उस पात्र की स्थिति में रख लेता है और फिर कुछ उक्तियाँ करता है। इस प्रकार वे उन वस्तुओं या पात्रों का चित्रण–सा सृष्टि अपनी ही प्रकृति के अनुसार करते हैं। जब कवि निरपेक्ष दृष्टि से किसी वस्तु की सृष्टि या चित्रण करता है तो वह एक नवीन सृष्टि होती है और यह पात्र नूतन कल्पना होती है, इसी कारण डंटन ने इसमें काव्य कला का चरम उत्कर्ष माना है। इस प्रकार की निरपेक्ष दृष्टि डंटन के विचार से उच्चतम शक्ति है। समस्त संसार का साहित्य देखने पर उन्हें इस निरपेक्ष दृष्टि के दो या तीन कवि मिले जिनमें शैक्सपियर मुख्य हैं। शुक्ल जी कहते हैं कि शेक्सपियर के नाटकों में अन्तःप्रकृति वाले पात्रों के साथ अधिकांश वह हैं, जिनकी भाव व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। जूलियस सीज़र इसका उदाहरण है। डंटन के मतानुसार शेक्सपियर की निरपेक्ष दृष्टि का सर्वोत्तम उदाहरण हैमलेट है। हैमलेट अपनी माता के चरित्र का पतन तथा विश्वासघात देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठता है और इस स्थिति विशेष के कारण वह भी वर्ग विशेष के अन्तर्गत आ जाता है। उसके बहुत–से भाषणों को सहृदय ग्रहण करता है। शुक्ल जी कहते हैं

कि उनके मतानुसार ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा, में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल बाह्य मनोरंजन का कुत्रिम खेल होगा। परन्तु डंटन ने ऐसी ही मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्जवल उदाहरण माना है। इस प्रकार भारतीय साहित्य में जहाँ रसनुभूति को मुख्य माना गया है वहाँ पश्चिम में केवल वैचित्र्य और कौतूहल को यह स्थान दिया गया है। शुक्ल जी पाश्चात्य मत से सहमत नहीं है।

पश्चिम की इस नूतन सृष्टि निर्माण वाली कल्पना का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा है। शुक्ल जी कहते हैं योरोप में यह काव्य समीक्षा का सूत्र बन गया है। परन्तु भारतीय साहित्य में यह शास्त्री सिद्धान्त न होकर अर्थवाद के रूप में कवि और कवि कर्म की स्तुति के रुप में ग्रहण किया गया। इस नवीन सृष्टि की कल्पना के कारण पाश्चात्य कवि दूसरे जगत् की बातें कहने लगे, एक अन्य जगत का वर्णन अपने काव्य में करने लगे। शैली के पश्चात् यह विचार प्रवृत्ति और बढ़ गए। यह प्रवृत्ति योरोप के पुनरुत्थान काल में आरम्भ हुई, यह उस युग–विशेष की ही प्रतिक्रिया थी। शुक्ल जी कहते हैं कि इस युग से पहले काल में काव्य की रचना काल को अखण्ड, अन्नत और भेदातीत मानकर और लोक एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। इस विचार के कारण काव्य रचना देश, काल और समाज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर नहीं की जाती थी। कवि लोग समाज की विभिन्न रुचियों और परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखते थे। परन्तु इस अभव की ओर पुनरुत्थान काल में ध्यान गया और साहित्य शास्त्रियों ने व्यक्तिवाद की एक नवीन विचारधारा प्रतिष्ठित की। इस प्रवृति को लेकर पश्चिमी साहित्य व्यक्तिगत विशेषताएँ विशेष वैचित्र्य प्रस्तुत करने में एक दूसरे से होड़ करने लगे।

जब किसी 'वाद' का प्रभाव काव्य श्रेत्र में होता है तो वह उस काव्य के तत्त्वों को पीछे हटाकर अपना स्थान प्रमुख बना लेता है, यह बात योरोप में हुई। काव्य क्षेत्र में लोक का क्या स्थान है और व्यक्ति का क्या स्थान है। सामान्य रूप, आकृति तथा अन्तर्भूमियाँ का ऐसा प्राप्त होता है कि जहाँ अभिन्नता होती है, एकता होती है। ये अन्तर्भूमियाँ मर–समष्टि की रागात्मक प्रवृत्ति में प्राप्त होती हैं। सर्वमान्य भावों को जिसका मानव मात्र समान रूप से ग्रहण करता है उसी के आधार पर भारतीय साध ाारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई। इन अन्तर्भूमियों का सम्बन्ध मानव ह्रदय से है जोकि बाह्य सभ्यता तथा कृत्रिमता पर आधृत नहीं हैं। इसका सम्बन्ध ह्रदय की मूल वासनात्मक सत्त से है।

योरुप में व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति ने स्वच्छन्दता आन्दोलन के उत्तरकाल में एक अत्यन्त विकृत रूप धारण कर लिया। यदि व्यक्तिवाद को पूर्ण रूप से माना जाए तो कविता करने का कोई लाभ नहीं। क्योंकि व्यक्तिवाद के अनुसार एक ह्रदय की दूसरे से कोई समानता नहीं और जब समानता नहीं हो वह ह्रदय उस कविता को कैसे ग्रहण करेंगे, जिसकी रचना एक ही भावना की हज़ारों लाखों व्यक्तियों के एक ही रूप से ग्रहण करने के लिए की जाती है। व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति की अवस्था में

तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की भावना को छोड़ कर केवल बाह्य व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य को ही लिया जाए जो कुतूहल उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार योरोप में कल्पना द्वार कृत्रिम हृदय सृष्टि करने को ही कविता का ध्येय माना जाने लगा। इस प्रकार योरोप में जहाँ विशेष केविधान करने की प्रवृत्ति रही, भारत में विशेष को सामान्य बनाने की भावना रही। भारतीय वाणी ने वे भेदों में अभेदता, अभिन्नता के भावों को सर्व सामान्य के होते ग्रहण कर साध ाारणीकरण का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया। परन्तु योरोप में अभिन्नता, अभेदता के स्थान पर मित्रता और भेद का निर्माण किया गया जो कि कौतूहल और चमत्कार प्रधान होती थी।

योरोप में काव्य के अन्य सब पक्षों को छोड़कर कल्पना और व्यक्तित्व पर ही ज़ोर दिया गया। शुक्ल जी कल्पना को काव्य का बोध पक्ष मानते हैं जो कवि या श्रोता की रूप व्यापार योजना को प्रेरित करने वाले कुंठित भाव या मनोविकार होते हैं। इस कारण भारतीय दृष्टि से भावपक्ष को प्रधानतावादी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। योरोप का काव्य केवल आनन्द विलक्षण को तथा कौतूहल देखने की ही वस्तु रह गई।

इस कल्पना और व्यक्तित्व के आधार पर पश्चिम में कई वाद बने। क्रोंचे ने अपना अभिव्यंजनावाद प्रस्तुत कर कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध स्वरूप मानने पर बल दिया। क्रोचे ने इस कल्पित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान तथा विचारप्रसूत ज्ञान से सर्वथा भिन्न–भिन्न माना। इन्होंने भावों तथा मनोविकारों को भी काव्य विधान का अवयव नहीं माना। परन्तु फिर भी उन्हें अभिव्यंजना के रूप में भावों की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा।

योरोप में विशेष को इतना अधिक महत्व प्राप्त हुआ कि बहुत से स्थानों पर आलोचना भी काव्य में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिए विवेचन पद्धति को लगभग त्याग ही दिया गया। शुक्ल जी कहते हैं कि भारतीय मासिक पत्रिकाओं में जो अद्‌भूत और रमणीय शब्दावली मिलती है वह विशेष की प्रवृत्ति का प्रभाव है। पश्चिम में कोई भी साहित्यिक वाद या प्रवृत्ति अधिक समय तक नहीं चलने पाती और इस कारण बीसवीं शताब्दी के काव्य क्षेत्र में वहाँ गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल गई। कविता में स्वाभाविकता हो चाहे नहीं, परन्तु कोई विचित्रता, नवीनता अवश्य ही होनी चाहिए। कुछ लेखक इसी विचार से नवीन प्रकार की उच्छृंखलता, वक्रता, असम्बद्धता, अनर्गलता आदि का प्रदर्शनकाव्य में करने लगे। काव्य की विशुद्ध भावना को अपनाने वाले कुछ ही कवि रह गए। योरोप के अन्दर गत अर्ध–शताब्दी में हुए 'रहस्यवाद', 'कलावाद' के आन्दोलन आज मृत स्वीकार किए जाते हैं। वहाँ का साहित्य वर्ग अब वादों के कृत्रिम झमेले से निकलकर विशुद्ध काव्य को ग्रहण करना चाहता है। वादों के प्रति वहाँ पर एक घृणा का भाव उत्पन्न हो गया है। शुक्ल जी के विचार से काव्य आत्मा हनन करने की जो 'वाद' प्रवृत्ति थी वह अब समाप्त होने लगी है। काव्य की आत्मा रसानुभूति को फिर से स्थान प्राप्त होने

लगा है।

शिल्प

शुक्ल जी के इस साहित्यिक, काव्यशास्त्रीय और समीक्षापरक निबन्ध की शिल्प विधि गद्य की समास और व्यास दोनों शैलियों का समन्वय प्रस्तुत करती हैं। आगे कुछ सटीक निदर्शन प्रस्तुत हैं –

1. समास शैली

इस शैली में किसी भी कथन, बात, तथ्य आदि की अभिव्यक्ति विस्तृति के स्थान पर संक्षिप्त रूप में ही कही जाती है, मानो 'गागर में सागर' भरा जा रहा हो यथा –

जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोध की पूर्ण शक्ति नहीं आती। उस का इसी रूप में लाया जाना ही हमारे यहाँ 'साधरणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोक–हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य–जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक–हृदय में हृदय के बीच होने की दशा का नाम रस–दशा है।

2. व्यास शैली : इस शैली में किसी एक या थोड़ी–सी बात को विस्तार से बताया जाता है और शब्दों, वाक्यांशों, पर्यायों की भी पुनरुक्तियाँ हो सकती हैं, यथा–

कभी–कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति–विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है, तो श्रृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह–रह कर आलम्बन–रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी, व्यक्ति की ही होगी।

3. भाषा : इस साहित्यिक और समीक्षामूलक निबंध की भाषा विषयनुकूल गंभीर्य, तार्किकता, तुलनात्मकता और मूल्यांकन परक कही जा सकती है। भाषा में अन्य निबन्धों के समान संस्कृत तत्सम शब्दों के साथ प्रवाह और सरसता बनाए रखने के लिए यत्र तत्र तद्‌भव, देशज, अरबी–फारसी–उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। यथा –

1. संस्कृत तत्सम शब्द : काव्य, श्रोता, पाठक, मन, रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, सौन्दर्य, रहस्य, मनुष्य, मात्र, भावात्मक, सत्ता, लोक–हृदय, जाति, सामान्य, विशेषता, विचित्रता, लीन, रस–दशा, वर्णित, आलम्बन, विभाव, रसानुभूति, विवेचन, रूप, गुण प्रतिपादित इत्यादि।

2. तद्‌भव शब्द : बहुत (सं. बहुतर, प्रभूत), नीची (सं. नीचै), अलग (सं. अलग्न), थोड़ा (सं. स्तोक), कुछ (सं. किंचित), भूखा (सं. बुभुदयु), डर (सं. दरः दरं),

पचास (सं. पंचाशत्)

3. शब्द विकार : मिहिरगुल (शुद्ध नाम मिहिर कुल)

4. अरबी–फ़ारसी उर्दू शब्द : 'खिला.फ' और ज़्यादा अरबी सं. पु. शब्द

5. अंग्रेज़ी शब्द : फ़ैशन Images, concept, expressions, symbolic, aspect, phetric, unoroledge, relations, dramatic, absolute, vision etc.

अन्ततः कहा जा सकता है कि इस निबन्ध में शुक्ल जी ने तार्किकता, बौद्धिकता, समीक्षापारक दृष्टिगद्य की समास–व्यास शैली, सरलता, गंभीरता इत्यादि गुणों के समावेश से अपने निबन्ध–शिल्प का एक अच्छा नमूना प्रस्तुत किया है। अतः निबन्ध–शैली समग्रतः शुक्ल जी के निबन्ध–शिल्प का पूर्ण प्रतिनिधत्व करने वाली कही जा सकती है।

टिप्पणी : शुक्ल जी के स्वर्गवास के उपरान्त अनेक समीक्षकों ने इस निबन्ध में क्रोचे के अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त की व्याख्या को गलत ठहराया था और शुक्ल जी के अंग्रेज़ी भाषा–ज्ञान से अनभिज्ञता की बात भी की थी। वास्तव में निबन्धकार ने 'साधारणीकरण' की व्याख्या तो विद्वत्तापूर्ण शैली में की है, किन्तु क्रोचे के द्वारा प्रतिपादित 'अभिव्यंजनावाद' को 'व्यक्तिवाद' और 'व्यक्ति वैचित्र्य' का पर्याय बना कर समस्त विवेचना करने की शैली अवश्य त्रुटिपूर्ण रही है। इससे यह निबन्ध दोषपूर्ण शिल्प का उदाहरण कहा जा सकता है।

1.6.4 सप्रसंग व्याख्या

1. "साधारणीकरण का अभिप्राय.....आलम्बन हो जाती है।"

साधारणीकरण का मतलब यह होता है कि कोई विशेष वस्तु या विशेष व्यक्ति (दुष्यन्त–शकुन्तला) काव्य में आश्रय का आलम्बन बनकर आते हैं, वह अन्य मनुष्यों के मन का भी आलम्बन बन जाए। इसी स्थिति को साधारणीकरण कहते हैं।

2. "इसी से भारतीय दृष्टि.....सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की ।"

कल्पना के साथ–साथ मनुष्य के मन में रीति, करुणा, उत्साह आदि अनेक प्रकार के मनोविकारों के होने के कारण भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने काव्य में भाव पक्ष को प्रधानता दी है। भाव पक्ष की प्रधानता के हेतु ही यहाँ रस निष्पत्ति के सिद्धान्त को भी स्थापित किया गया।

3. "इसी प्रकार सब की रुचि.....वासनात्मकसत्ता से है।"

काव्य के क्षेत्र में 'लोक' और 'व्यक्ति' की धारणा की संगतता पर विचार करते हुए शुक्ल जी यह बताते हैं कि संसार में जहाँ हम अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ देखते हैं वहाँ कुछ अभिन्नता भी पाई जाती है। संसार में प्रत्येक जाति की ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति की रुचि और स्वभाव भिन्न होते हैं। दो व्यक्तियों का स्वभाव और रुचियाँ बहुत ही कम एक समान पाई जाती हैं। परन्तु इन बाह्य या ऊपरी

साधारण अन्तरों के रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति में कुछ ऐसी भाव–भूमियाँ या भावनाएँ होती हैं, जो सामान्यतः सभी में समान रूप से पाई जाती हैं। उनमें एक प्राकृतिक अभिन्नता होती है। सुन्दर वस्तु सबको सुन्दर लगेगी। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य के क्षेत्र में भी जाति या देश–विशेष की अपनी विशेष मान्यताएँ होती हैं। खिलता हुआ पुष्प और प्रस्फुटित होती हुई उषा सबको सर्वत्र समान रूप से आकर्षित करती है। ये भावनायें सम्पूर्ण मानव दृष्टि के भीतर समान रूप से व्याप्त प्रेम की भावना का प्रमाण हैं। यहाँ भी अन्तर रहता अवश्य है परन्तु वह भावना न होकर मात्र में हो सकता है। एक वस्तु किसी को कम सुन्दर लगती है और किसी को अधिक पर सुन्दर सभी को लगती है। मानव–हृदय की ये भावनाएँ सारे मानव हृदयों की भावात्मक प्रकृतियों के अन्तर्गत होती है। कष्ट पीड़ित मानव को देखकर सुखी होना ही मानव की रागात्मिकता प्रकृति है। मानव–हृदय नित्यप्रति जिस लोक–सामान्य अर्थात् मानव मात्र के समान भावों की भावभूमि पर पहुँचता है उसी के आधार पर मनुष्यों के भावों का पारस्परिक तादात्म्य होता है। भावों के इसी तादात्मय को 'साधारणीकरण' कहते हैं।

प्रत्येक मानव–हृदय में स्थित लोक–सामान्य भावभूमि (श्रद्धा, करुणा, क्रोध, उत्साह आदि भाव) कृत्रित या कल्पित न होकर सत्य होती है। इसका जन्म हृदय की आन्तरिक अवस्था से होता है एवं उसका सम्बन्ध उस भावना या वासना से है जो हमारे अन्तस् से अनादि काल से विद्यामान है, मूल रूप में या बीज रूप में स्थित है। यही कारण है कि मानव की इन भावनाओं को न तो सभ्यता पूरी तरह से प्रभावित कर पाती है, भले ही उसका विकास जाति भेद के अनुसार कम या अधिक हो, और न काव्य या मानव जीवन को प्रभावित करने वाले विचार, वस्तुएँ आदि ही इन पर किसी प्रकार का स्थायी या महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल पाते हैं। ये भावनायें धूमिल पड़ सकती हैं परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं हो सकती क्योंकि बीजरूप में ये मानव मात्र में स्थित रहती हैं और सदैव रहेंगी।

1. यहाँ शुक्ल जी ने 'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना' या 'भिन्नः रुचिर्हिलोका, के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भी बाह्य भिन्नता में आन्तरिक एकता स्थापित कर यह सिद्ध किया है कि काव्य ही उस भिन्नता में एकता स्थापित करने में समर्थ होता है और यही 'साधारणीकारण' है।
2. भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' के जिस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए सर्वसामान्य हृदय से उसका सम्बन्ध स्थापित किया, यहाँ उसी का उल्लेख है।
3. 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त लोक–सामान्य भावों के आधार पर ही बना है, इसका यहाँ समर्थन किया गया है।
4. 'भाव–भेद, रस भेद अपारा' के होते हुए भी विश्व में मानव मात्र के सुख–दुःख, हर्ष–शोक आदि के अभाव के भाव एक से ही होते हैं, शुक्ल जी ने यहाँ इसी मान्यता का समर्थन किया है।

5. ''भारतीय काव्य दृष्टि.....और रही है।''

शुक्ल जी के कथनानुसार – 'भेदों में अभेद की स्थापना करना' भारतीय काव्य का ध्येय रहा है। केवल भेद का चित्रण करना योरोपीय काव्य की प्रवृत्ति रही है जिसमें वैचित्र्य की ही प्रधानता है। भारतीय काव्य दृष्टि की इस विशेषता का उद्‌घाटन करते हुए शुक्ल जी कहते हैं –

मानव स्वभाव एवं रुचि भिन्न होती है, फिर भी मानवमात्र में कुछ ऐसी भावनाएँ पाई जाती हैं जो सब में समान रूप से सदैव स्थित रहती हैं, (इसका विवेचन ऊपर के गद्यखण्ड की व्याख्या से किया जा चुका है) यही सामान्य भावनाएँ लोक–सामान्य भावभूमि कही जाती हैं। भारतीय काव्य का प्रधान लक्ष्य इन्हीं सामान्य भावभूमियों के उद्‌घाटन का रहा है। इसी को शुक्ल जी ने 'भिन्नता में अभिन्नता' का प्रदर्शन माना है। भारतीय काव्य में व्यक्ति विशेष का ही चित्रण होता आया है। परन्तु वे व्यक्ति विशेष योरोपीय काव्य के विचित्र चरित्रों के समान लोक से पूर्णत' भिन्न न होकर सदैव सामान्य अर्थात् जाति का प्रतिनिधित्व करते आए हैं। 'गोदान' का होरी एक विशेष व्यक्ति है। परन्तु वह प्रतिनिधित्व करता है, भारत के सामान्य किसान का ही। होरी के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है। यही 'विशेष' द्वारा 'सामान्य' का प्रतिनिधित्व करना है।

1.6.4.1 स्वयं जांच अभ्यास :

1. 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' निबंध का सार अपने शब्दों में प्रस्तुत करें।

.....

.....

.....

1.6.5 प्रश्नावली :

1. 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' निबन्ध का सार प्रस्तुत करें।
2. प्रस्तुत निबन्ध का कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से विश्लेषण करें।
3. साधारणीकरण का अर्थ बताते हुए इस विषय पर विस्तृत चर्चा करें।
4. व्यक्ति–वैचित्र्यवाद पर विस्तृत चर्चा करें।

1.6.6 सहायक पुस्तकें :

चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

Mandatory Student Feedback Form

https://forms.gle/KS5CLhvpwrpgjwN98

Note: Students, kindly click this google form link, and fill this feedback form once.